॥ श्रीः ॥

श्लोक-संग्रह

'मलसीसर'

ठाकुर भूरसिंह शेखावत

संगृहीत

राज्य जयपुर

सं० १६८१ वि०

कौमुद्यधीताऽध्ययनं हि जातं,
मनोरमायाश्च सभूषणायाः ॥
भाष्यं श्रुतं शेखरयोश्च द्वन्द्वं ।
सांख्येऽप्यधीता किल कौमुदी च ॥

तत्पश्चात् सं० १९३० तक इलायचीगिरिजी काशी में अध्ययन करते रहे । मेरे पिता ठाकुर उदयसिंहजी गयाश्राद्ध के निमित्त गये थे, उस समय वे स्वामीजी को मलसीसर ले आये । तत्पश्चात् न्यायशास्त्र के अध्ययनार्थ कुरुक्षेत्र प्रान्त के 'पहवा' नामी स्थान में वर्षमात्र के लिये फिर गये थे । इन्हीं स्वामीजी की कृपा से मुझे संस्कृत श्लोकों के पठन पाठन की रुचि हुई और कालान्तर में मैंने यह संग्रह किया जो सज्जन पुरुषों की भेंट किया जाता है ।

इस संग्रह में जो त्रुटियां रह गई हों उनकी जो सज्जन हमें सूचना देंगे तो हम कृतज्ञतापूर्वक विचार करके भविष्य में उनके सुधार की चेष्टा करेंगे ।

ठाकुर भूरसिंह शेखावत,

सूची

संख्या	विषय	श्लोकसंख्या	पृष्ठ-संख्या
१	मङ्गलाचरण	५	१—३
२	स्तुति	५	४—६
३	धर्म	४५	७—२३
४	नीति	१६२	२४—८६
५	प्रस्ताविक	२६	८७-९८
६	शान्त	३७	९९—१०९
७	प्रार्थना	१५	११०—११६
८	श्री रामराज्यमहिमा	४	११७—११९
९	श्री रामचन्द्र की अभिलाषा	१	१२० —
	जोड़	२९०	

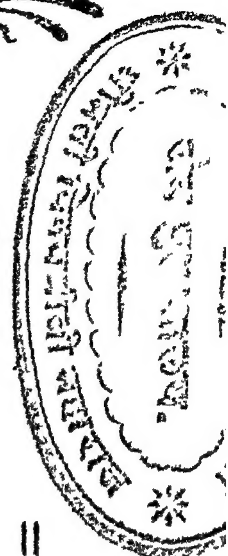
॥ श्रीः ॥

सूचना

इस पुस्तक में कई श्लोकों का पता लगा दिया है और कई श्लोकों का नहीं लगा सके हैं—पृष्ठसंख्या ६१ से वाल्मीकि के कई श्लोक अयोध्याकाण्ड के हैं, पृष्ठसंख्या ७० में दो श्लोकसंख्या १२६—१२७ के उत्तरकाण्ड के हैं। पृष्ठसंख्या ९३ में एक श्लोकसंख्या १५ के रचयिता खानखाना हैं। पृष्ठ ९३ श्लो० सं० १६ उस समय का है जब कि रणथम्भोर के क़िले में अलाउद्दीन और वीर हम्मीर में घोर युद्ध हुआ था। वहां युद्ध में जाते हुए अपशकुन देख कर शृगालों के प्रति हम्मीर का यह वचन है। सब श्लोकों के पूरे पते नहीं लिख सके हैं इस त्रुटि को पाठक क्षमा करें।

* श्रीः *

श्लोक-संग्रह



* मङ्गलाचरणम् *

गजाननं भूतगणादिसेवितं,
कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम् ।
उमासुतं शोकविनाशकारकं,
नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम् ॥ १ ॥

हाथी के से मुखवाले, प्राणिमात्र के पूज्य, कैथ (काथोड़ी) और जामून के उत्तम फलों को खाने वाले, पार्वती के पुत्र, शोक को दूर करने वाले ऐसे विघ्नेश्वर (गणेशजी) के चरण-कमलों को मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं,
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं,
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥ २ ॥

शान्त आकार वाले, शेष नाग पर शयन करने वाले, कमल है जिनकी नाभि में, देवताओं के स्वामी, संसार के आधार रूप, नील आकाश के सदृश, मेघ के समान नेत्र वाले, योगिराजों को ध्यानद्वारा प्राप्त होने योग्य, संसार-भय

के नाश करने वाले और समस्त लोकों के एकमात्र स्वामी ऐसे "विष्णु" भगवान् को मैं प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

रुद्राक्षकङ्कणलसत्करदण्डयुग्मं,
भालान्तरालविधुभस्मधरं त्रिपुण्ड्रम् ।
पञ्चाक्षरं परिपठन् वरमंत्रराजं,
ध्येयं सदा पशुपतिं शरणं व्रजेऽहम् ॥ ३ ॥

रुद्राक्ष के कंकण से शोभित हैं दोनों हाथ जिनके, ललाट-पटल में चन्द्रमा, भस्म और त्रिपुंड्र तिलक के धारण करने वाले, और पांच अक्षर वाले श्रेष्ठ मंत्रराज को पढ़ते हुए, सर्वदा ध्यान करने योग्य, ऐसे पशुपति "महादेव" की मैं शरण प्राप्त होता हूं ॥ ३ ॥

मूर्त्तिस्त्वे परिकल्पितः शशिभृतो वर्त्माऽपुनर्जन्मना,
मात्मेत्यात्मविदां क्रतुश्च यजतां भर्त्ताऽमरज्योतिषाम् ।
लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुश्चानेकधा यः श्रुतौ,
वाचं नः स दधात्वनेककिरणस्त्रैलोक्यदीपो रविः ॥ ४ ॥

अष्टमूर्त्ति शिवजी का एक मूर्त्तिस्वरूप, फिर जन्म न लेने वाले, मुक्तिगामियों का मार्गरूप, आत्मज्ञानियों का आत्मा-रूप, और यजन करने वालों का यज्ञरूप, देवता तथा तारा-गण का स्वामी, लोकों के नाश, उत्पत्ति और पालन में समर्थ, जो वेद में अनेक प्रकार से वर्णन किया हुआ, अनेक किरण

वाला, तीनों लोकों का दीपकरूप ऐसे सूर्य भगवान् हमारी वाणी को प्रकाशमान करें ॥ ४ ॥

या माया मधुकैटभप्रमथिनी या माहिषोन्मूलिनी,
या धूम्रेक्षणचण्डमुण्डमथिनी या रक्तबीजाशिनी ।
शक्तिः शुंभनिशुंभदैत्यदलिनी या सिद्धिलक्ष्मीः परा,
सा चण्डी नवकोटिशक्तिसहिता मां पातु विश्वेश्वरी ॥५॥

जो माया मधुकैटभ को मथन करने वाली, जो माहिषासुर का नाश करने वाली, जो धूम्रनेत्र, चण्ड, मुण्ड का मथन करने वाली, जो रक्तबीज का भक्षण करने वाली, जो शक्तिरूप शुंभ निशुंभ दैत्यों को दलने वाली, जो सब से उत्कृष्ट सिद्धि तथा लक्ष्मी रूप है ऐसी संसार की स्वामिनी वह चण्डी नव-कोटि शक्तियों सहित मेरी रक्षा करे ॥ ५ ॥



* स्तुतिः *

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता,
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माऽच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता,
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥१॥

जो सरस्वती मोगरा के पुष्प, चन्द्रमा, बर्फ और मोतियों के हार की तरह श्वेत है, जिसने श्वेत वस्त्र धारण कर रक्खे हैं, जिसके हाथ वीणा, वर और दण्ड इनसे शोभित हैं, जो श्वेतकमल रूप आसन पर विराजमान है और जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं से सर्वदा प्रणाम की जाती है वह समग्र पुरुषों की मूर्खता को नष्ट करने वाली भगवती सरस्वती मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

शुद्धां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं,
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां,
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥ २ ॥

शुद्ध और ब्रह्म के विचाररूप सार से उत्कृष्ट और सब के आदि में पैदा हुई, संसार में व्याप्त, वीणा और पुस्तक को धारण करने वाली, अभय को देने वाली, मूर्खता रूप अंधकार

को नष्ट करने वाली, हाथ में स्फटिक मणियों की माला को धारण करने वाली, कमल-आसन पर विराजमान और बुद्धि को देने वाली उस परमेश्वरी भगवती सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूं ॥ २ ॥

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥ ३ ॥

बहुत बल का स्थान, और सुवर्ण के पर्वत की सी कान्ति-वाला जिसका शरीर है, राक्षस-रूप वन का जलाने वाला, और ज्ञानियों में अग्रसर, समग्र गुणों का स्थान, वानरों के स्वामी, श्रीरामचन्द्रजी के श्रेष्ठ दूत उस पवनपुत्र हनुमानजी को मैं प्रणाम करता हूं ॥ ३ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं,
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं,
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ४ ॥

मन का सा जिसका वेग है, पवन के तुल्य जिसका वेग है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो बुद्धिमानों में श्रेष्ठ है, जो पवन का पुत्र है, और जो वानरों के झुण्ड में प्रधान है उस श्रीरामचन्द्रजी के दूत श्री हनुमानजी को मैं शिर से प्रणाम करता हूं ॥ ४ ॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय,
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यः,
नमोऽस्तु चन्द्राग्निमरुद्गणेभ्यः ॥ ५ ॥

लक्ष्मण-सहित रामचन्द्रजी को नमस्कार और उस जनकदुलारी सीतादेवी को नमस्कार हो, रुद्र, इन्द्र, यम और पवन देवताओं को नमस्कार हो, चन्द्र, अग्नि और मरुद्गण को नमस्कार हो ॥ ५ ॥



* धर्म *

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥ १ ॥

[मनु० अध्याय ६, श्लोक ६२]

'धृति' कहिये संतोष और 'क्षमा' कहिये दूसरों द्वारा अपकार करने पर भी उसके वदले का अपकार न करना और 'दम' कहिये विकार के कारण विषय के निकट होने पर भी मन का नहीं विगड़ना और 'अस्तेय' कहिये अन्याय से पराये धन का न लेना और 'शौच' कहिये मिट्टी तथा जल से देह को शुद्ध करना और 'इन्द्रियनिग्रह' कहिये विषयों से चक्षु आदि का रोकना और 'धी' कहिये शास्त्र आदि के तत्व का ज्ञान और 'विद्या' कहिये आत्मज्ञान और 'सत्य' कहिये यथार्थ कहना और 'अक्रोध' कहिये क्रोध का कारण होने पर भी क्रोध न होना यह दश प्रकार का धर्म का स्वरूप है ॥ १ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥

[भगवद्गीता]

मन का रोकना, इन्द्रियों को रोकना, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, अध्यात्मज्ञान, विविधप्रकार की विद्यायें, आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥ २ ॥

को पहिले कह आये हैं), देह और इन्द्रियों के थक जाने पर भी चित्त में किसी तरह की ग्लानि न लाना धृति कहलाती है उसका होना, दोनों तरह की शुद्धता (मिट्टी जल आदि से बाहरी, मन और बुद्धि की निर्मलता भीतरी), दूसरे को मारने की इच्छा न करना, अपने को अधिक बड़ा मान कर अभिमान न करना, ये सब अर्थात् 'अभयं सत्वसंशुद्धिः' से लेकर यहां तक की बातें दैवी विभूति वाले (जिसका भावी अच्छा होता है) के होती हैं ॥ ७ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ८ ॥

[भगवद्गीता]

रागद्वेषादि के कारण शास्त्र के अर्थ को अन्यथा समझ कर, परधर्म को भी धर्म समझता हुआ कर्तव्य कर्म मानता है, उसके लिये कहते हैं:—

अत्यन्त प्रशंसनीय अपना धर्म विगतगुण अर्थात् थोड़ा अनुष्ठान करने पर भी अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए परधर्म से कल्याणकारी है । स्वधर्म में स्थित पुरुष का मरण, परधर्म में स्थित पुरुष के जीवन से अच्छा है, क्योंकि परधर्म नरकादि भय को करने वाला है ॥ ८ ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ६ ॥

[भगवद्गीता]

यहां यह शंका होती है कि हरएक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, प्रकृति सब के है। प्रकृतिशून्य कोई भी नहीं तो फिर आदमी को पुरुषार्थप्रवृत्ति का क्या प्रयोजन ? उसके उत्तर में कहते हैं कि:—

इन्द्रिय के भोग्य जो शब्दादि विषय हैं उनमें अनुकूल में राग तथा अपने प्रतिकूल में द्वेष होना ये ज़रूरी बात है। अधिकारी का पौरुष यही है कि उनके वश में नहीं आवे, वह राग द्वेष इस पुरुष के लिये कल्याणमार्ग में विघ्न करने वाला डाकू की तरह है ॥ ९ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ १० ॥

[मनुः]

प्रजाओं की रक्षा करना, पात्र को दान देना, यज्ञादिद्वारा देवताओं का यजन करना, सच्छास्त्रों (धार्मिक तथा नैतिक ग्रन्थों) का पढ़ना; विषय-सेवन में आसक्त न होना यह क्षत्रिय का संक्षेप से धर्म कहा गया है ॥ १० ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ ११ ॥

[महाभारत]

धर्म का सारांश सुनो और सुनकर इसको चित्त में दृढ़ रक्खो, कि अपनी आत्मा के लिये बुरे लगनेवाले कामों को दूसरे के लिये कदापि न करे ॥ ११ ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च,
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिसेवातिथिपूजनं च,
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ १२ ॥
[वाल्मीकि]

सत्य भाषण करना, स्वधर्म पालन करना, पराक्रम करना, प्राणियों पर दया करना, मीठा बोलना, ब्राह्मण देवता और अभ्यागतों का सत्कार करना, सज्जन इसही को स्वर्ग का मार्ग बतलाते हैं ॥ १२ ॥

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ १३ ॥
[महाभारत]

वेद में अनेक मार्ग कहे हैं, स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्रों के भी मत अनेक हैं, एक ऋषि नहीं है कि जिसका वचन प्रमाण समझा जावे, इसलिये धर्म का तत्व तो गुफा में छुपगया, अब हम को चाहिये कि बड़े लोग जिस मार्ग से चले हैं वा चलते हैं वही मार्ग हमारे लिये उत्तम वं कल्याणदायक है ॥ १३ ॥

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा,
न्यायेन कोपस्य च संप्रवृद्धिः ।

अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा,
पञ्चैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥ १४ ॥
[अत्रिस्मृति]

दुष्ट को दण्ड देना, सज्जन पुरुष का सत्कार करना न्याय से ख़ज़ाने को बढ़ाना, अर्थी अर्थात् मुक़द्दमे वालों में पक्षपात न करना, अपने देश की चिन्ता और रक्षा रखना, राजाओं के लिये ये पांच यज्ञ कहे गये हैं अर्थात् राजाओं को इन सत्कर्मों का फल यज्ञफल के समान होता है ॥ १४ ॥

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ १५ ॥
[रघुवंश प्रथम सर्ग]

वह मैं (कालिदास) जन्म से लेकर शुद्ध, फलसिद्धि पर्यन्त कर्म करने वाले, समुद्रान्त पृथ्वी के स्वामी स्वर्ग तक जिनका रथ जासक्ता है ॥ १५ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ १६ ॥
[रघुवंश]

बालकपन में विद्याभ्यास करने वाले, जवानी में सांसारिक विषय-भोगों की इच्छा करने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों की-सी वृत्ति रखने वाले और मरण-समय में योग के अनुकूल देह त्याग करने वाले ॥ १६ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ १७ ॥

[रघुवंश प्रथम सर्ग]

विधिपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाले, कामना के अनुकूल याचकों का सत्कार करनेवाले, अपराध के अनुकूल दण्ड देने वाले समय पर जगने वाले ॥ १७ ॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ १८ ॥

[रघुवंश प्र० सर्ग]

दान करने के लिये धन इकट्ठा करने वाले, सत्य भाषण के लिये कम बोलने वाले, यश के लिये जीतने की इच्छा वाले, और सन्तति होने के लिये विवाह करने वाले* ॥१८॥

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः,
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः,
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ १९ ॥

[रघुवंश द्वितीय सर्ग]

मरने से जो बचावे वह क्षत्रिय है । यह क्षत्रिय जाति का ऊंचा शब्द लोकों में विख्यात है उससे प्रतिकूल व्यापार

* उपरोक्त ४ श्लोकों में कालीदास ने रघुवंशी राजाओं के लक्षण कहे हैं ॥ १८ ॥

करने वाले के राज्य से क्या, अथवा निन्दा से मलिन प्राणों से क्या ॥१९॥

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं,
यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ २० ॥

[रघुवंश]

राजा दिलीप सिंह से कहते हैं कि जो तेरी समझ में मैं मारने योग्य नहीं हूं तो तू मेरे यशरूपी शरीर पर दया कर, क्योंकि अवश्य नाश होने वाले इन पंचमहा-भूत-सम्बन्धी शरीरों में मुझ जैसे मनुष्यों का प्रेम नहीं है ॥२०॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ २१ ॥

[मनुः]

जैसे पवन का आश्रय लेकर संपूर्ण जीवधारी जीते हैं इसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर सब आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास अपना निर्वाह करते हैं ॥२१॥

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ २२ ॥

[आपस्तम्बस्मृतिः]

जो पराई स्त्रियों को माता के समान, पराये द्रव्यों को

ढेले के समान और सब प्राणियों को अपने समान देखता है वही पण्डित है ॥२२॥

सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ।
तत्फलं लभते सम्यग् रक्षिते शरणागते ॥ २३ ॥
[हितोपदेश]

संपूर्ण कामनाओं से पूर्ण अश्वमेध यज्ञ के करने से जो कुछ फल होता है, दुष्ट मनुष्यों से पीड़ित और शरणागत आये हुए दीन पुरुष की रक्षा करने वाला मनुष्य उस फल को सहज ही पा लेता है ॥२३॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ २४ ॥

जो मनुष्य जीवमात्र को बंधन और वध अर्थात् हिंसा करने के दुःख को नहीं देना चाहता है वही सब का हित चाहने वाला है और अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥२४॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥ २५ ॥
[वाल्मीकि रामायण]

सुमित्रा लक्ष्मण से कहती हैं कि तुम वन में दशरथ की जगह तो राम को समझना, मेरी जगह सीता को जानना, और वन को ही अयोध्या समझना, बस यही मेरी शिक्षा है हे बेटा ! अब तुम सुख से राम के साथ जाओ ॥२५॥

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥ २६ ॥
[वाल्मीकि रामायण]

लक्ष्मणजी का रामचन्द्रजी से निवेदन है कि मैं सीताजी के बाजू को नहीं जानता हूं, कुण्डलों को भी नहीं जानता हूं, नित्य चरण-कमलों में प्रणाम करने के कारण केवल नूपुरों को जानता हूं ॥ २६ ॥

सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २७ ॥
[सुभाषितरत्नभाण्डागार]

जो मनुष्य सब प्रकार की हिंसाओं से बचे हुए हैं और जो सब कुछ सह लेनेवाले हैं, तथा जो पुरुष सब को आश्रय देनेवाले हैं वे ही मनुष्य स्वर्ग में जानेवाले हैं ॥ २७ ॥

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ २८ ॥
[हितोपदेश]

हजार अश्वमेध और सत्य को एक साथ तुला में धरे । किन्तु हजार अश्वमेध से सत्य ही भारी निकला ॥ २८ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ २९ ॥
[महाभारत]

योगाभ्यास में तत्पर रहने वाला संन्यासी तथा संग्रामभूमि में शत्रु के सन्मुख मरने वाला वीर, संसार में यही दोनों पुरुष सूर्य-मंडल के भेदन करने वाले हैं अर्थात् मोक्ष के अधिकारी हैं ॥२९॥

न गुणान्गुणिनो हन्ति स्तौति चान्यान्गुणानपि ।
न हसेच्चान्यदोषांश्च सोऽनसूयः प्रकीर्तितः ॥ ३० ॥

[अत्रिस्मृति]

जो गुण वाले के गुणों की क्षति नहीं करता है किन्तु दूसरे के गुणों की प्रशंसा करता है और दूसरे के दोषों की हँसी नहीं करता है उसे असूया-राहित कहते हैं ॥ ३० ॥

शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः ।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च यमा दश ॥ ३१ ॥

[अत्रिस्मृति]

शौच, यज्ञ, तप, दान, वेद का पढ़ना, इन्द्रिय को रोकना, प्रीति, प्रसन्नता, मधुरता और नम्रता ये दश नियम हैं ॥३१॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥३२॥

[भगवद्गीता]

कर्तव्य बुद्धि से जो दान, योग्य देश, काल, पात्र का विचार करके अनुपकारी पुरुष को दिया जाता है उसको सात्त्विक दान कहते हैं ॥ ३२ ॥

कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिँस्त्यक्ते सुखी भवेत् ॥ ३३ ॥
[हितोपदेश]

काम, क्रोध तथा मोह, लोभ, मान और मद, मनुष्य इन शत्रुओं को त्याग देवे क्योंकि इनके छोड़ देने पर सखी होता है ॥ ३३ ॥

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्म्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥ ३४ ॥
[हितोपदेश]

दूसरों को उपदेश देने में पण्डिताई तो सब मनुष्यों को सहज है किन्तु स्वयं धर्म में चलना कोई से महात्मा का होता है ॥ ३४ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोहमीर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३५॥
[मनुः]

चुगली खाना, अनुचित बलात्कार (जबरदस्ती) करना, वैर के कारण किसी को हानि पहुंचाना, डाह रखना, दूसरे की निन्दा करना, किसी के बनते हुए काम में धक्का लगाना, गालीगलौच करना, निठुरता रखना ये आठ दोष क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥३५॥

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥३६॥
[हितोपदेश]

भोजन करना, शयन करना, डरना, स्त्री-सङ्ग करना, इन कामों में मनुष्यों और पशुओं के साथ समानता है अर्थात् ये सब काम जैसे मनुष्य करते हैं वैसे ही पशु भी करते हैं केवल पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में धर्म ही विशेष है। इस कारण जो मनुष्य धर्म के आचरण से रहित हैं वे पशुओं के समान हैं ॥ ३६ ॥

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसंगा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ ३७ ॥
[सुभाषितरत्नभाण्डागार]

महात्मा पुरुषों के स्नेह तो मरण समय तक ठहरने वाले होते हैं और क्रोध उसी क्षण में नाश होने वाले होते हैं तथा उनके त्याग आसक्तिरहित होते हैं ॥ ३७ ॥

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥ ३८ ॥

पुण्य के फल को सब चाहते हैं (परन्तु) पुण्य करना नहीं चाहते हैं। इसी प्रकार पाप के फल को कोई नहीं चाहते हैं परन्तु पाप यत्नपूर्वक करते हैं ॥ ३८ ॥

गेयं गीता नामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥३९॥
[चर्पटपंजरी]

गीता और सहस्रनाम (आदि उत्तम भगवत्सम्बन्धी ग्रंथों) का गान अर्थात् पठन पाठन करना चाहिये और लक्ष्मी-पति नारायण के रूप का निरन्तर ध्यान करना चाहिये, सज्जन पुरुषों के समीप चित्त को ले जाना चाहिये और दीन अर्थात् दरिद्री मनुष्य को धन का दान देना चाहिये ॥ ३९ ॥

प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ।
निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिफलभाग्भवेत् ॥ ४० ॥

[अष्टावक्रगीता]

धीर पुरुष की प्रवृत्ति (सांसारिक व्यवहार करना) भी निवृत्ति फल (मोक्ष) की देने वाली होती है, और मूर्ख की निवृत्ति भी प्रवृत्ति फल (जन्ममरणरूप आवागमन) की देने वाली होती है ॥ ४० ॥

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥४१॥

[हितोपदेश]

शरीर के और गुणों के मध्य में बहुत बड़ा अन्तर है। शरीर तो क्षणमात्र में नाश होने वाला है और गुण कल्पान्त पर्यन्त ठहरने वाले हैं ॥ ४१ ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ ४२ ॥

[हितोपदेश]

दुष्ट मनुष्यों के मन में कुछ ही होता है, कहते कुछ ही हैं और करते कुछ ही हैं। महात्माओं के मन में जैसा होता है वैसा ही कहते हैं और वैसा ही करते हैं ॥ ४२ ॥

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां,
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा,
नाशाविभग्ना विमुखाः प्रयान्ति ॥ ४३ ॥

संसार में मनुष्यों में वही एक मनुष्य सराहने योग्य है, वही उत्तम है, वही सत्पुरुष है तथा वही धन्य है कि जिसके यहां से याचक वा शरणागत मनुष्य निराश होकर विमुख न चले जावें ॥ ४३ ॥

परद्रविणनिःस्पृहः परकलत्रनिष्कौतुकः,
परप्रणयवत्सलः परनिकारबद्धक्षमः ।
परस्तुतिविशारदः परगुणापवादोज्झितः,
परार्त्तिहरणोद्यतो भवति भूरिपुण्यैर्नरः ॥ ४४ ॥
[चतुर्वर्गसंग्रह]

दूसरे के धन की इच्छा न करना, पराई स्त्री को कुदृष्टि से न देखना, दूसरों से प्रेम करने में सदा तत्पर रहना, दूसरों के तिरस्कार करने में क्षमा धारण करना, दूसरों की प्रशंसा करने में निपुण, दूसरों के गुणों की निन्दा करना जिसने छोड़

दिया है और दूसरों की पीड़ा दूर करने में तत्पर मनुष्य बहुत पुण्य के प्रभाव से जन्म लेता है ॥४४॥

परस्त्री मातेव क्वचिदपि न लोभः परधने,
न मर्यादाभङ्गः क्षणमपि न नीचेष्वभिरुचिः।
रिपौ शौर्यं धैर्यं विपदि नियमः सम्पदि सता-
मिदं वर्त्म भ्रातर्भरत! नितरां पालय किल ॥ ४५ ॥

पराई स्त्री को माता के समान समझना, कभी भी पराये धन में लोभ न करना, अपनी कुल-मर्यादा का भंग न करना, क्षणमात्र भी नीच पुरुषों के संग में प्रीति न रखना, शत्रु के सन्मुख शूरवीरता रखना, विपत्ति काल में धीरज रखना, संपत्ति-काल में नियमानुसार चलना, हे भाई भरत! यह सत्पुरुषों का मार्ग है इसको निश्चय के साथ निरन्तर पालन करो ॥४५॥



नीतिः ।

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।
षडेते यत्र तिष्ठन्ति तत्र देवोऽपि शङ्कते ॥ १ ॥

उद्यम (कार्य में तत्पर रहना), साहस (कठिन कामों से भी न हिचकना), धैर्य (विघ्न वा दुःख पड़ने पर भी न घबराना), बुद्धि (कार्य-सिद्धि का ज्ञान), शक्ति (कार्य-साधन योग्य बल), पराक्रम (उत्साह शक्ति) ये छः गुण जिस पुरुष में रहते हैं उससे देवता भी डरते हैं अर्थात् इस ढंग से काम करने वाला पुरुष देवताओं को भी जीत सकता है ।१॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ २ ॥

[हितोपदेश]

ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुष को निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता (थोड़ी देर के काम में बहुत समय लगाना) ये छः दोष छोड़ देने चाहिये ॥ २ ॥

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥३॥

काम करने में उत्साह रखने वाले, किसी काम में उचित से अधिक समय न लगाने वाले, काम करने की रीति को

जानने वाले, किसी व्यसन में आसक्ति न रखने वाले, शूर-वीरता रखने वाले, दूसरे के किये हुए उपकार को जानने वाले और पक्की मित्रता रखने वाले मनुष्य के पास निवास करने के लिये लक्ष्मी आप ही चली आती है ॥ ३ ॥

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
र्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ४ ॥

[हितोपदेश]

उद्योगी पुरुष मनुष्यों में श्रेष्ठ है उसको लक्ष्मी आप ही मिल जाती है, भाग्य में लक्ष्मी होगी तो मिलेगी इस प्रकार बुरे और आलसी मनुष्य कहा करते हैं इसलिये दैव के आश्रय को छोड़ कर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिये यत्न करने पर भी जो कार्य सिद्ध न होवे तो इसमें कर्ता का क्या दोष है ।

'कोऽत्र दोषः' इस पद से यह भी अर्थ होता है कि यत्न करने पर यदि कार्य सिद्ध न होवे तो इस अवसर पर यह सोचना चाहिये कि इस हमारे यत्न में क्या दोष अर्थात् इस कार्य की सिद्धि में बाधा करने वाला क्या दोष शेष रह गया है उसके दूर करने पर कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा ॥ ४ ॥

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।
को वाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥ ५ ॥

[चाणक्य]

इस कार्य के लिये यह समय कैसा है तथा सहायता देने वाले मित्र कौनसे हैं, देश कौनसा है, मेरा खर्च और आमद क्या है, मैं कौन हूं और मेरी सामर्थ्य कितनी है इन बातों को बार २ सोच लेना चाहिये ॥ ५ ॥

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्वस्य ॥ ६ ॥

आलस्य, स्त्री-सेवा, रोगीपना, जन्मभूमि से प्रीति अर्थात् विदेश सेवन से डरना, सन्तोष रखना अर्थात् अपनी उन्नति की इच्छा न रखना और डरपोकपना ये छः दोष मनुष्य की उन्नति में बाधा करने वाले हैं ॥ ६ ॥

यस्य कार्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ ७ ॥

[विदुरनीति]

जिसके काम में जाड़ा वा गरमी, डर वा प्रीति, सम्पदा वा दारिद्रता ये विघ्न नहीं पहुंचाते वही पण्डित है ॥ ७ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

[हितोपदेश]

जो वस्तु नहीं मिलती है उसको तो पाने की चेष्टा करे, पाई हुई को नाश होने से बचावे, रक्षा की हुई को अच्छी तरह बढ़ावे और बढ़ी हुई को सुपात्रों को देवे अथवा अच्छे कामों में लगावे ॥ ८ ॥

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ ९ ॥

[हितोपदेश]

बुद्धिमानों का समय काव्य और शास्त्रों के आनन्द लेने में बीतता है और मूर्खों का समय तो बुरे शौकों में, सोने में और लड़ने झगड़ने में व्यतीत होता है ॥ ९ ॥

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ॥१०॥

[हितोपदेश]

जो प्रकरण चल रहा है उसके अनुसार बात करना, शुद्ध भाव से प्रीति का रखना तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार क्रोध करना जो जानता है, वही पण्डित है ॥ १० ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः,
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति,
सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति ॥ ११ ॥

[विदुरनीति]

वह सभा नहीं है जहां वृद्ध पुरुष नहीं हैं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म की बात न बोलें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं होवे और वह सत्य नहीं है जो कपट-सहित है ॥ ११ ॥

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥ १२ ॥

[शुक्रनीति]

ऐसा कोई अक्षर नहीं है कि जो मंत्र न हो, ऐसी कोई जड़ नहीं है कि जो औषध न हो, इसी प्रकार ऐसा कोई मनुष्य नहीं है कि जो किसी काम के भी योग्य न हो किन्तु इनको यथायोग्य काम में लगाने वाला मनुष्य दुर्लभ है ॥ १२ ॥

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां,
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्यस्य जनस्य जन्तुना,
न जातहार्देन न विद्विषाऽऽदरः ॥ १३ ॥

[किरातार्जुनीय]

निष्फल क्रोध न करने वाले (क्रोध का फल अवश्य देने वाले) और आपत्ति को मिटाने वाले आदमी के मनुष्य आप ही वश हो जाते हैं, किन्तु जो मनुष्य क्रोधशून्य है अर्थात् क्रोध के अवसर पर भी क्रोध नहीं करता है उस पुरुष का आदर न तो उस के मित्र ही करते हैं और न शत्रु ही भय करते हैं ॥ १३ ॥

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ १४ ॥
[माघ]

जिसके बुद्धि शस्त्र, स्वाम्यादि सप्त[1] युक्त शरीर, दुर्भेद गुप्त मन्त्र (सलाह) कवच, गूढ़चर पुरुष नेत्र, संदेशहर मुख है, ऐसे विलक्षण पुरुष को पार्थिव कहते हैं ॥ १४ ॥

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥ १५ ॥
[हितोपदेश]

समय आने से पहिले हानि लाभ को सोच लेने वाला और समय पड़े पर भी संभल जाने वाला ये दोनों ही सुख को प्राप्त होते हैं । जो भाग्य में होगा वही होगा, इस बात का आश्रय लेकर बैठ रहने वाला विनाश को प्राप्त होता है ॥१५॥

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१६॥
[चाणक्य]

समर्थ पुरुषों के सामने विशेष भार क्या है और उद्योगी पुरुषों के लिये कौनसा देश दूर है, विद्यावान् मनुष्यों के लिये विदेश कौनसा है तथा प्रिय वचन बोलने वालों के लिये शत्रु कौन है ॥ १६ ॥

१ स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना ।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥१७॥
[भर्तृहरिशतक]

जब मैं कुछ थोड़ासा जानने लगा तब हाथी की तरह मदान्ध हो गया. उस समय मैं सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानने वाला हूं इस अभिमान से मेरा मन लिप्त हो गया, फिर जब पण्डितों के द्वारा मुझे कुछ २ ज्ञान प्राप्त होने लगा तब मैं मूर्ख हूं ऐसा समझने लगा और बुखार की तरह मेरा सब मद जाता रहा ॥ १७ ॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ १८ ॥
[भर्तृहरिशतक]

पर्वत के कठिन स्थानों में भीलों अथवा सिंहादिकों के साथ २ घूमना तो अच्छा है परन्तु मूर्खों के साथ इन्द्र के महलों में रहना भी अच्छा नहीं ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्द्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥
[भर्तृहरिशतक]

बाजूबंध मनुष्यों को भूषित नहीं करते हैं, न चांद जैसे उजले हार पहिनने से मनुष्य शोभा पाता है, न स्नान करने से, न चन्दन लगाने से, न पुष्पमाला पहिनने से, और न केश सँवारने से मनुष्य शोभित होता है। मनुष्य को तो सभ्यता और विद्वत्ता के साथ बातचीत करना ही शोभित करता है क्योंकि और गहने तो बिगड़ते सुधरते रहते हैं और वाणीरूप गहना तो सदा ही भूषित करता रहता है॥ १९॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता नहि धनं विद्याविहीनः पशुः॥२०॥

[भर्तृहरिशतक]

विद्या ही मनुष्य का अधिक रूप है और ढका हुआ गुप्त धन है। विद्या सब प्रकार के भोग देने वाली है, यश और सुख देने वाली है। विद्या गुरुओं की गुरु है। विदेश जाने पर विद्या भाई के समान है। विद्या के समान कोई पूजनीय वस्तु नहीं है। राज में विद्या ही का सत्कार होता है धन का सत्कार नहीं होता है इस कारण जो विद्यारहित है, वह पशु है॥ २०॥

शान्तिश्चेत्कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां,
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।

किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि,
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

[भर्तृहरिशतक]

यदि मनुष्यों के शान्ति अर्थात् सहनशीलता है तो उनको अपनी शरीर-रक्षा के लिये कवच धारण करने की क्या आवश्यकता है, यदि शरीर में क्रोध है तो फिर दूसरे शत्रुओं से क्या प्रयोजन है, जो जाति के मनुष्य उपस्थित हैं तो फिर अग्नि की क्या आवश्यकता है और जो सुहृज्जन मौजूद हैं तो फिर दिव्य ओषधियों से क्या लाभ है, जो दुष्ट मनुष्यों का साथ है तो फिर सर्पों से क्या प्रयोजन है, जो सुन्दर विद्या है तो फिर दूसरे धन से क्या प्रयोजन है, जो लज्जा है तो फिर आभूषणों से क्या प्रयोजन है और जो श्रेष्ठ कविता बनाने की शक्ति है तो फिर राज्य से भी क्या प्रयोजन है ॥ २१ ॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने नया नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्त्तता,
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२२॥

[भर्तृहरिशतक]

जो मनुष्य अपने भाई बन्धु तथा मित्रों के साथ उदारता का, सेवकों के साथ दया का, दुष्टों के साथ कुटिलता का, सज्जन पुरुषों के साथ प्रीति का, राजाओं के साथ नीति का

अर्थात् विनय का, विद्वानों के साथ सरलता का, शत्रुओं के साथ वीरता का, अपने से बड़ों के साथ सहनशीलता का, स्त्रियों के साथ चालाकी का व्यवहार करने रूप कलाओं में कुशल हैं उन्हीं से इस संसार की प्रतिष्ठा है ॥ २२ ॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ २३ ॥
[भर्तृहरिशतक]

बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सचाई पैदा करती है, मान बढ़ाती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है, दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है, कहो सज्जन पुरुषों की संगति मनुष्यों के लिये क्या २ लाभ नहीं पहुंचाती ? ॥ २३ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावःपरेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥ २४
[भर्तृहरिशतक]

प्राणिमात्र की हिंसा से बचना, दूसरे के धन को हरण करने की इच्छा न करना, सत्य वचन बोलना, समय पर

अपनी शक्ति के अनुसार दान देना, पराई स्त्रियों की चर्चा करने वा सुनने से दूर रहना, तृष्णा के प्रवाह को रोकना, अपने से बड़े और मान्य पुरुषों के साथ नम्रता रखना, संपूर्ण जीवमात्र पर दया रखना, यह ही संपूर्ण शास्त्रों में कहा हुआ और सब के लिये बराबर लाभ देने वाला कल्याण अर्थात् भलाई का मार्ग है ॥ २४ ॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २५ ॥

[भर्तृहरिशतक]

नीचे दर्जे के आदमी विघ्न के डर से किसी काम का आरंभ ही नहीं करते हैं, मध्यम अर्थात् बीच के दर्जे के मनुष्य काम का आरंभ तो कर देते हैं किन्तु विघ्न होने पर उसको छोड़ देते हैं, उत्तम पुरुष तो बार २ विघ्न होने पर भी जिस काम को आरंभ करते हैं उसको बिना पूरा किये नहीं छोड़ते ॥ २५ ॥

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद्विद्या यदि किं जनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥ २६ ॥

[भर्तृहरिशतक]

यदि लालच है तो दूसरे खोटे गुण की क्या आवश्यकता है, चुगली खाने का स्वभाव है तो फिर और पाप करने की क्या आवश्यकता है, सत्य भाषण करने का स्वभाव है तो फिर उसको तप करने की क्या आवश्यकता है, और जो मन पवित्र है तो तीर्थ से क्या लाभ है, जो सज्जनता है तो दूसरे गुणों से क्या प्रयोजन है, जो अपनी प्रशंसा है तो आभूषणों की क्या आवश्यकता है, उत्तम विद्या आती है तो फिर नौकर चाकरों की क्या आवश्यकता है और जो अपना अपयश हो रहा है तो फिर मरने से क्या प्रयोजन है अर्थात् वह मृतक तुल्य ही है ॥ २६ ॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ २७ ॥

[भर्तृहरिशतक]

विपत्ति के समय धीरज रखना, उदय काल अर्थात् अपनी बढ़ती के समय क्षमा रखना, सभा में वाणी की चतुरता दिखाना, संग्राम में पराक्रम करना, यश में प्रीति रखना, शास्त्र के अभ्यास में व्यसन (शौक) रखना, यह गुण महात्मा पुरुषों में स्वभाव से ही सिद्ध होते हैं ॥ २७ ॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।

आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥२८॥

[भर्तृहरिशतक]

पाप से बचाता है, हित के काम में लगाता है, गुप्त बात को छुपाता है, गुणों को प्रगट करता है, आपत्तिकाल में मित्र का साथ देता है, और ज़रूरत के समय मित्र को देता है, सन्त लोग कहते हैं कि ये अच्छे मित्र के लक्षण हैं ॥ २८ ॥

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥२९॥

[भर्तृहरिशतक]

जो अपनी कार्य्यसिद्धि के विचार को छोड़कर दूसरे के कार्य के लिये प्रयत्न करते हैं ऐसे सत्पुरुष तो कोई से होते हैं किन्तु अपने काम में वाधा न पड़ने की अवस्था में जो दूसरों के काम के लिये प्रयास करते हैं वे सामान्य मनुष्य हैं और जो अपने काम के लिये दूसरों के काम को विगाड़ देते हैं वे मनुष्यों में राक्षस हैं परन्तु जो पुरुष अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न होने पर भी दूसरे के काम को बिगाड़ देते हैं वे किस गणना में हैं यह हम नहीं जानते ॥ २९ ॥

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः,
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्,
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥३०॥
[भर्तृहरिशतक]

तृष्णा (लालच) को काटो, क्षमा (सहनशीलता) का सेवन करो, अभिमान को छोड़ो, पापों में प्रीति मत करो, सत्य बोलो, सत्पुरुषों के मार्ग के अनुसार चलो, विद्वानों की सेवा करो, मान्य जनों का आदर करो, अपने शत्रुओं के साथ भी शिष्टाचार का व्यवहार करो, अपनी प्रशंसा मत करो, कीर्ति का पालन करो (अर्थात् अपनी नामवरी को मत बिगड़ने दो) दुःखी मनुष्यों पर दया करो, ये ही सत्पुरुषों के लक्षण हैं ॥ ३० ॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ ३१ ॥
[भर्तृहरिशतक]

ऐश्वर्य का भूषण सज्जनपना, शूरवीरता का वृथा न बोलना, ज्ञान का शांति वा इन्द्रियों का जीतना, शास्त्र पढ़ने का नम्रता, धन का पात्र को दान देना, तप का क्रोध न करना; समर्थता का क्षमा और धर्म का भूषण निष्कपटता है किन्तु

शील (उत्तम आचरण और स्वभाव) सब भूषणों का मूल-कारण और सब प्रकार के मनुष्यों के लिये अति उत्तम भूषण है ॥ ३१ ॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ३२ ॥

[भर्तृहरिशतक]

नीतिवेत्ता लोग निन्दा करें वा स्तुति करें, लक्ष्मी आवे चाहे इच्छानुसार चली जावे, आज ही मृत्यु होजावे वा युगांतर में, किन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से अपने पैर को कदापि नहीं हटाते ॥ ३२ ॥

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं,
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥३३॥

[भर्तृहरिशतक]

हे साधुजनो ! यदि आप मनवांछित फल भोगने की इच्छा रखते हो तो अन्यान्य गुण-समूहों में वृथा आसक्त न होकर केवल सदाचार की ही आराधना करो कि जो दुष्टों को

साधु, मूर्खों को पण्डित, शत्रुओं को मित्र, गुप्त को प्रगट और जहर को तत्काल अमृत बना देता है ॥ ३३ ॥

को लाभो गुणिसंगमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः,
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्वे रतिः ।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं
विद्या, किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥ ३४ ॥

[भर्तृहरिशतक]

लाभ क्या है ? गुणवानों के साथ संगति । दुःख क्या है ? मूर्खों के साथ समागम । हानि क्या है ? समय का व्यर्थ खो देना । चातुर्य क्या है ? धर्म के तत्त्व में प्रीति रखना । शूरवीर कौन है ? जिसने इन्द्रियां जीत ली हों । अत्यन्त प्यारी क्या है ? आज्ञाकारिणी स्त्री । धन क्या है ? विद्या । सुख क्या है ? विदेश में न जाना । और राज्य क्या है ? आज्ञा का पालन होजाना ॥ ३४ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥ ३५ ॥

[भर्तृहरिशतक]

आलस्य ही मनुष्यों का शरीर में रहने वाला एक बड़ा शत्रु है और उद्यम के बराबर कोई भाई नहीं है कि जिस उद्यम के करने से मनुष्य कभी दुःख नहीं पाता है ॥ ३५ ॥

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं,
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥३६॥
[भर्तृहरिशतक]

कार्यसिद्धि की इच्छा करने वाला बुद्धिमान् पुरुष कभी तो ज़मीन पर पड़ रहता है और कभी पलंग पर सोता है, कभी शाक पात खाकर रह जाता है, और कभी भात आदि उत्तम अन्न का भोजन करता है, कभी फटे चिथड़े पहन लेता है और कभी अनेक रंग के रेशमी वस्त्र धारण करता है, वह पुरुष सुख को कभी नहीं गिनता है और दुःख को भी कभी नहीं गिनता है अर्थात् कार्य-साधन में तत्पर मनुष्य के दुःख, सुख समान हैं न तो वह सुख में आसक्त होता है और न दुःख में अधीर होता है ॥ ३६ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्,
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ ३७ ॥
[भर्तृहरिशतक]

संपत्ति-काल में महत्पुरुषों का चित्त कमल से भी अधिक कोमल होता है और आपत्ति-काल में वही चित्त बड़े पहाड़ की शिलाओं के समूह के समान कठोर होता है ॥ ३७ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ ३८॥

[भर्तृहरिशतक]

खोटी सलाह से राजा, संसारी पुरुषों के साथ विशेष संग करने से यति, विशेष लाड़ से पुत्र, विद्या न पढ़ने से ब्राह्मण, दुराचारी पुत्र से कुल, दुष्ट की संगति से उत्तम स्वभाव या सदाचार, मद्य-सेवन से लज्जा, संभाल के न रखने से खेती, विदेश में रहने से स्नेह, नम्रता न रखने से मित्रता, नीति में न चलने से सम्पदा और फिजूलखर्ची या असावधानी से धन नष्ट होजाते हैं ॥ ३८ ॥

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव,
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां,
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्त्तुमयं समर्थः ॥ ३९ ॥

[भर्तृहरिशतक]

यदि हंस पर विधाता कुपित होजावे तो कमिलिनी के वन में उसका क्रीड़ा करना छीन सकता है किन्तु दूध और जल के अलग करने में चतुरता की जो संसार में उसकी (हंस की) कीर्ति प्रसिद्ध होरही है उसको कदापि नहीं मिटा सकता ॥ ३९ ॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,
यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां,
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ ४० ॥

शास्त्र पढ़कर भी मनुष्य मूर्ख होते हैं किन्तु जिसको क्रिया का अनुभव है वही पंडित है क्योंकि अच्छी तरह विचार के बताया हुआ भी औषध केवल उसके नाम लेने से ही रोगी को रोगरहित नहीं करता है ॥ ४० ॥

व्यालं वालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते,
छेत्तुं वज्रमणिञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते ।
माधुर्यं मधुविन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते,
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः
सुधास्यन्दिभिः ॥ ४१ ॥ [भर्तृहरिशतक]

जो पुरुष अमृत झरने वाले अपने सुन्दर वचनों से दुष्ट मनुष्यों को सत्पुरुषों के मार्ग में लाना चाहता है वह कमल की दंडी के तंतुओं से दुष्ट सर्प अथवा दुष्ट हाथी को रोकने, सिरसों के पुष्प के अग्रभाग से हीरे को वेधने तथा शहद की बूंद से क्षार समुद्र को मीठा बना देने की चेष्टा करता है ॥ ४१ ॥

विनाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं,
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।

स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां,
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ॥ ४२ ॥
[हितोपदेश]

धीर पुरुष धन के बिना भी बहुत मान के साथ ऊंचे पद को प्राप्त होता है और बहुत धन युक्त भी कृपण मनुष्य अनादर को प्राप्त होता है। स्वभाव से पैदा हुई और गुणों को प्रगट करने वाली सिंह की कान्ति को क्या सोने की माला पहिन कर भी कुत्ता पा सकता है ॥ ४२ ॥

यस्मिन्देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।
न च विद्यागमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥ ४३ ॥
[हितोपदेश]

जिस देश में आदर सत्कार नहीं है, न कोई जीविका है और न वहां कोई अपने भाई बन्धु हैं तथा न किसी प्रकार की कोई विद्या ही प्राप्त होती है तो ऐसे देश को छोड़ देना चाहिये ॥ ४३ ॥

यो यत्र कुशलः कार्ये, तं तत्र विनियोजयेत् ।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति ॥ ४४ ॥
[हितोपदेश]

जो पुरुष जिस काम में चतुर होवे उसको उसी काम में लगाना चाहिये। बिना देखे और किये हुए काम में शास्त्र का जानने वाला भी भूल करता है ॥ ४४ ॥

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ४५ ॥

[हितोपदेश]

जिस जिस मनुष्य का जो जो भाव है बुद्धिमान मनुष्य उस उस भाव से उसके अनुवर्त्ती होकर उस मनुष्य को शीघ्र ही अपने वश में कर लेवे अर्थात् जिस मनुष्य की जैसी आदत है उसी तरह की आदत करके उसको अपने आधीन कर लेवे ॥ ४५ ॥

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ ४६ ॥

[हितोपदेश]

मृगों ने सिंह का न कोई राज्याभिषेक किया है और न कोई अन्य संस्कार किया है किन्तु अपने पराक्रम से राज्य लेने वाले सिंह के 'मृगेन्द्र' पने का पद तो स्वयं सिद्ध होता है ॥४६॥

यस्य प्रसादे पद्मास्ते, विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ४७ ॥

[हितोपदेश]

जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी है, जिसके पराक्रम में विजय है और जिसके क्रोध में मृत्यु है ऐसा राजा समस्त तेज-रूप है ॥ ४७ ॥

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् क्रुद्धमंजलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥ ४८ ॥
[पंचतंत्र]

लोभी को धन से वश में करे, क्रोधी पुरुष को हाथ जोड़ कर, मूर्ख को उसकी इच्छा के अनुसार काम करके और पण्डित को सच्ची बात कह कर अपने वश में कर लेवे ॥४८॥

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ४९ ॥
[हितोपदेश]

अपने भाई बांधव, स्त्री, नौकरों का समूह, अपनी बुद्धि, अपना पराक्रम और धैर्य, मनुष्य आपत्ति-रूपी कसौटी में इन के सार को जानता है अर्थात् आपत्ति के समय में इनकी परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन्,
तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥ ५० ॥
[विदुरनीति]

अपने आश्रितों को बांटकर जो थोड़ा भी भोजन कर-लेता है, बहुतसा कार्य करके जो थोड़ा शयन करता है और जो मांगने पर शत्रुओं को भी देता है उस आत्मज्ञानी का अनर्थ कभी स्पर्श नहीं करते ॥ ५० ॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ ५१ ॥
[विदुरनीति]

हे राजन् ! सदा मनसुहाती प्यारी बातों के कहने वाले मनुष्य तो सहज ही मिल सकते हैं परन्तु सुनने में कड़वी लगे किन्तु परिणाम में लाभकारी होवे ऐसी बात के कहने वाले और सुनने वाले दोनों ही कठिनता से मिलते हैं ॥ ५१ ॥

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते,
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देरिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः,
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ५२ ॥
[सुभाषितरत्नभाण्डागार]

कहा हुआ मतलब तो पशु भी समझ लेते हैं, घोड़े और हाथी भी संकेत के अनुसार काम करते हैं। पण्डित मनुष्य तो बिना कहे ही दूसरे के अभिप्राय को समझ लेता है क्योंकि दूसरे की चेष्टा से ही उसके मन के भाव को समझ लेना यही बुद्धि का लक्षण है ॥ ५२ ॥

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः,
श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः,
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥ ५३ ॥
[सुभाषितरत्नभाण्डागार]

हित अहित के विचार से शून्य बुद्धि वाले और बहुतसे वेद के सिद्धान्तों पर न चलने वाले तथा केवल पेट भरने मात्र की ही इच्छा रखने वाले पुरुषरूपी पशु में और पशु में क्या विशेषता है अर्थात् कुछ भी विशेषता नहीं ॥ ५३ ॥

जातिमात्रेण किं कश्चिद् हन्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५४ ॥
[हितोपदेश]

क्या कोई जातिमात्र से ही मारा जाता है अथवा पूजित होता है । व्यवहार को समझ कर मारने योग्य वा पूजने योग्य होता है ॥ ५४ ॥

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ॥ ५५ ॥
[हितोपदेश]

संसार में न तो कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु है, परस्पर के व्यवहार से ही मित्र तथा शत्रु होजाते हैं ॥ ५५ ॥

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः,
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिंत्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ ५६ ॥
[हितोपदेश]

अच्छी तरह से पचा हुआ अन्न, चतुर पुत्र, अच्छी तरह नियम में रक्खी हुई स्त्री, अच्छी तरह सेवन किया हुआ राजा, अच्छी तरह से विचार करके कहा हुआ वचन, तथा अच्छी तरह से विचार करके किया हुआ काम, ये सब बहुत समय होजाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होते अर्थात् कभी भी बुरा फल नहीं देते हैं ॥ ५६ ॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ५७ ॥

[मनुः]

मुख से ऐसी बात बोलनी चाहिये कि जो सच्ची और सुनने वाले को प्यारी भी लगे । जो बात सत्य हो किन्तु अप्रिय हो तो उसको नहीं बोलना चाहिये । ऐसी प्यारी बात भी न बोलनी चाहिये कि जो वास्तव में झूठी होवे । शास्त्रकारों ने यही सनातनधर्म कहा है ॥ ५७ ॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते,
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते,
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥ ५८ ॥

[चाणक्य]

जैसे कसौटी पर घिसना, काटना, अग्नि में तपाना, हथोड़े से पीटना इन चार बातों से सोने की परीक्षा की जाती है।

वैसे ही दानीपने से, अच्छे आचरण से, उत्तम गुणों से और सत्कर्म से मनुष्य की परीक्षा की जाती है ॥ ५८ ॥

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति,
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै,
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ ५९ ॥

किसी कारण से जो कोई क्रोध होता है तो निश्चय वह उस कारण के दूर होजाने पर प्रसन्न होजाता है किन्तु जिस मनुष्य का मन विना कारण ही द्वेष करने वाला है उसको कोई मनुष्य किस प्रकार प्रसन्न कर सकता है ॥ ५९ ॥

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ६० ॥
[हितोपदेश]

यह अपना है वा पराया है ऐसे विचार तुच्छ हृदयवाले मनुष्यों के होते हैं, उदार आचरण वाले पुरुषों के लिये तो संपूर्ण पृथ्वी ही कुटुंब के समान है ॥ ६० ॥

मुदं विषादः शरदं हिमागमः,
तमो विवस्वान्सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः ॥ ६१ ॥

दुःख हर्ष को, हिम ऋतु का आगमन शरद् ऋतु को, सूर्य अन्धकार को, दूसरे का उपकार न मानना पुण्य को, प्यारे का मिलाप शोक को, नीति आपत्ति को और दुर्नीति अर्थात् दुराचार बहुत बड़ी सम्पदा को नष्ट कर देते हैं ॥६१॥

रहस्यभेदो याञ्चा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥ ६२ ॥

गुप्त भेद को प्रगट कर देना, मांगना, कड़ापन रखना, अपने चित्त को स्थिर न रखना, क्रोध करना, झूठ बोलना और जूआ खेलना यह मित्र के दोष हैं ॥ ६२ ॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥ ६३ ॥

मनुष्य का जैसा भरोसा अपने स्वाभाविक मित्र पर होता है वैसा न माता पर, न स्त्री पर, न सगे भाई पर और न अपने पुत्र पर होता है ॥ ६३ ॥

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत्सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः । ६४ ॥

[हितोपदेश]

जो मनुष्य अपना भला चाहने वाले मित्रों की बात को नहीं सुनता है उसके विपत्ति नजदीक खड़ी है और वह मनुष्य अपने शत्रुओं को आनन्द देने वाला है ॥ ६४ ॥

अन्यमुखे दुर्वादः, स्वप्रियवदने तदेव परिहासः ।
इतरेन्धनजन्मा यो, धूमः सोऽगरुभवो धूपः ॥ ६५ ॥
[शुक्रनीति]

जो बात दूसरे के मुख से निन्दा समझी जाती है वही बात यदि अपना कोई प्यारा कहे तो वह हँसी समझी जाती है जैसे साधारण लकड़ियों का धुआं, धुआं समझा जाता है और वही धुआं जब अगर की लकड़ी से निकलता है तो धूप समझा जाता है ॥ ६५ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति,
यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत,
तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ६६ ॥

वह मित्र नहीं जिसके कोप से भय होता हो या जिसके साथ शंकापूर्वक व्यवहार किया जाय । मित्र वही है जिसमें पिता के समान विश्वास कर सके, बाक़ी के सब मुलाक़ाती हैं ॥६६॥

मूर्खस्य पञ्च चिह्नानि गर्वी दुर्वचनी तथा ।
हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते ॥ ६७ ॥

अभिमानी होना, दुर्वचन बोलना, हठ करना, अप्रिय वचन कहना और दूसरे की बात को न मानना ये पांच मूर्ख मनुष्य के चिह्न हैं ॥ ६७ ॥

देशाटनं परिडतमित्रता च,
वाराङ्गनाराजसभाप्रवेशः ।
अनेकशास्त्राणि विलोकितानि,
चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च ॥६८॥

देशों का भ्रमण करना, पण्डितों की संगति करना, चतुर श्रेष्ठ स्त्रियों के व्यवहार जानना, राजसभा में जाना और अनेक शास्त्रों का देखना यह पांच बातें चातुर्य की पैदा करने वाली हैं ॥ ६८ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विशिष्यते ॥ ६९ ॥
[मनुस्मृति]

क़िले में स्थित एक धनुर्धारी सौ योद्धाओं से युद्ध कर सकता है और सौ योद्धा हज़ारों से युद्ध कर सकते हैं इस कारण से क़िले की विशेषता मानी गई है ॥ ६९ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ७० ॥

स्वभाव ही से शूरवीर, शस्त्र-विद्या जानने वाले, स्वामि-सेवा और युद्ध में अनुराग रखने वाले, परिश्रम को सहन करने वाले प्रसिद्ध क्षत्रिय जिस सेना में होते हैं वही सेना अत्यन्त श्रेष्ठ कही जाती है ॥ ७० ॥

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ ७१ ॥

अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने वाला वीर पुरुष जिस राजा में मिलजाता है तो उसके प्रताप से उस राजा के सब शत्रु आपही वश होजाते हैं ॥ ७१ ॥

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ ७२ ॥

भेद करना, किले को बहुत समय तक रोके रहना, अ-वस्कन्द अर्थात् वार २ शत्रु के ऊपर चढ़ाई करना, एकाएक प्रबल आक्रमण का करना ये चारों किले के जीतने के उपाय हैं ॥ ७२ ॥

बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः ।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे ॥ ७३ ॥

सेना का बल घोड़ा है क्योंकि वह चलता हुआ किला है । इस कारण से ज़मीन के युद्ध में अधिक घोड़ों वाला राजा ही विजयी होता है ॥ ७३ ॥

वरमल्पबलं सारं न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारसङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ७४ ॥

पराक्रमी योद्धाओं की थोड़ी सेना भी अच्छी है केवल मुंडों की मंडली न करलेना चाहिये, सेना में से असार अर्थात् कायर पुरुषों का भागना सार अर्थात् पराक्रमी पुरुषों के भी साहस को भंग करदेता है ॥ ७४ ॥

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ ७५ ॥

युद्ध के आरंभ होने के समय सेना को व्यूह में खड़ा करके उत्साह बढ़ावे, और परीक्षा करे कि किसी चीज़ की कमी या कोई युद्ध के अयोग्य तो नहीं है और युद्ध का आरंभ होजाने पर युद्ध करती हुई सेना की गति को भली प्रकार देखता रहे कि जिससे समयानुसार उचित दिशा में बढ़ने या हटने की आज्ञा दे सके ॥ ७५ ॥

अकालसहमत्यल्पं, मूर्खव्यसनिनायकम् ।
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ ७६ ॥

क़िले के रहने वालों को अकाल अर्थात् दुर्भिक्ष आदि कष्टों का सहन करना, तथा क़िले के मनुष्यों की संख्या का कम होना, क़िलेदार का मूर्ख और व्यसनी होना, क़िले के भेद का गुप्त न रहना, तथा क़िले के योद्धाओं का डरपोक होना ये सब बातें क़िले के लिये व्यसन(दुःख)-रूप हैं ॥ ७६ ॥

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः,
ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

राजा से अवज्ञा अर्थात् अनादर पाकर पास के लोग बुद्धिहीन होजाते हैं, उनकी दशा देखकर पंडित जन राजा के पास नहीं आते हैं। पंडितों से त्यागे हुए राज्य में राजा की नीति सफल नहीं होती है, नीति के बिगड़ने पर सब जगत् विवश होकर अर्थात् असमर्थ होकर दुःख पाता है ॥ ७७ ॥

धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात् ।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम् ॥ ७८ ॥
[हितोपदेश]

हे राजन् ! सब चीजों के संग्रह से अनाज का संग्रह करना अच्छा है क्योंकि मुख में डाले हुए रत्न से प्राण नहीं रह सकते हैं ॥ ७८ ॥

अविचारयतो युक्ति-कथनं तुषपेषणम् ।
नीचेषूपकृतं राजन् वालुकास्विव मुद्रितम् ॥ ७९ ॥
[हितोपदेश]

हे राजन् ! अविचारी पुरुष को युक्तियों का उपदेश तुषों को पीसने के समान है और नीच पुरुषों के साथ भलाई क-

रना बालू मिट्टी पर अक्षर लिखने के समान निरर्थक है ॥७६॥

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ ८० ॥
[हितोपदेश]

शत्रु और मित्र दोनों पर क्षमा रखना यतियों का भूषण है किन्तु अपराधी प्राणियों पर क्षमा करना राजाओं का दूषण है ॥ ८ ॥

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ ८१ ॥

दूसरों के द्रव्य को हरने वाले प्रगट और गुप्त दोनों प्रकार के चोरों को राजा गुप्तचररूपी नेत्रों से देखता रहे ॥८१॥

धूर्त्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति ॥ ८२ ॥

जिस राजा के धूर्त्त (चालाक) स्त्री, वा बालक, ये मंत्री होजाते हैं, अनीतिरूपी पवन का उड़ाया हुआ वह राजा अपने कार्यरूपी समुद्र में डूब जाता है अर्थात् उसके सब कार्य बिगड़ जाते हैं ॥ ८२ ॥

स किं भृत्यः स किं मन्त्री य आदावेव भूपतिम् ।
युद्धोद्योगं स्वभृत्यागं निर्दिशत्यविचारितम् ॥ ८३ ॥

जो विना सोचे समझे राजा को युद्ध करने की या अपनी ज़मीन छोड़ देने की सलाह दे देता है वह क्या भृत्य है ? और वह क्या मंत्री है ? अर्थात् न वह भृत्य है और न वह मंत्री है ॥ ८३ ॥

आज्ञाभङ्गकरान्राजा न क्षमेत सुतानपि ।
विशेषः को नु राज्ञोऽस्य, राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥ ८४॥
[हितोपदेश]

राजा अपनी आज्ञा को न मानने वाले अपने पुत्रों को भी क्षमा न करे । अन्यथा प्रत्यक्ष राजा में और चित्रलिखित राजा में क्या अन्तर है ॥ ८४ ॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स तु न जीवति ॥ ८५ ॥
[मनुस्मृति]

सेवकों करके संयुक्त अर्थात् जिसके पास प्रवन्ध करने के लिये आदमी हैं उस राजा के राज्य में उसके देखते २ (उसकी जानकारी में) उसकी फर्याद करती हुई प्रजा को दुष्टजन सताते हैं वह राजा मृत ही है, जीता हुआ नहीं है ॥८५॥

अशासत्तस्करान्यस्तु वलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ ८६ ॥

जो राजा दुराचारियों को शिक्षा न देता हुआ प्रजा से

कर लेता है उसके देश में उपद्रव पैदा होते हैं और वह राजा स्वर्ग से भी गिरता है। अर्थात् ऐसे राजा के दोनों लोक विगड़ जाते हैं ॥ ८६ ॥

स्वदेशजं कुलाचारं, विशुद्धमथवाऽशुचिम् ।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ ८७ ॥
अधीतव्यवहारार्थं मौलं ख्यातं विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव, विदध्यान्मंत्रिणं नृपः ॥ ८८ ॥

चाहे शुद्ध हो वा अशुद्ध जो अपने देश और कुल के आचरण पर चलने वाला, मंत्र अर्थात् सलाह को जानने वाला, व्यसनरहित, व्यभिचाररहित, व्यवहारिक बातों को जानने वाला, कुलपरम्परा से विख्यात, पंडित और द्रव्य का पैदा करने वाला हो; राजा को चाहिये कि ऐसे पुरुष को मन्त्री बनावे ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं,
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव ।
ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने,
तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम् ॥८९॥

काम में आसक्त राजा अर्थात् भोगविलास में आसक्त रहने वाला राजा कार्य को और हित को नहीं गिनता है, मतवाले हाथी की तरह इच्छानुसार स्वतंत्र विचरता है, जब वह अत्यंत घमंडी राजा गहरे शोक में गिरता है तब अपने नौ-

करों को दोष लगाता है किन्तु अपनी मूर्खता को नहीं जानता है ॥ ८९ ॥

यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपतेः ॥ ९० ॥
[सुभाषितरत्नभाण्डागार]

अपने स्वामी से मान पाकर जिस प्रकार मनुष्य पृथ्वी में युद्ध करते हैं उस प्रकार राजा के बहुतसा धन देने पर भी नहीं करते ॥ ९० ॥

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥९१॥

सत्य भाषण करना, शूरवीरता रखना, सब प्राणियों पर दया रखना, समय पर दान देना ये राजा के प्रधान गुण हैं, जिस राजा में ये गुण नहीं होते हैं उसकी निन्दा होती है ॥ ९१ ॥

वित्तं यदा यस्य समं विभक्तं,
गूढश्चरः सन्निभृतश्च मन्त्रः ।
न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ९२ ॥

जिसका धन उचित विभाग के अनुसार व्यय होता है अर्थात् कर्मचारियों को उनकी योग्यता के अनुसार वेतन मि-

लता है और भिन्न २ कार्यों में यथायोग्य धन का खर्च होता है, जिसके गुप्तचर अर्थात् भेदिया गुप्त रहते हैं, जिसकी सलाह प्रकाशित नहीं होती है तथा जो राजा प्राणिमात्र से अप्रिय वचन नहीं बोलता है वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का राज्य कर सकता है ॥ ९२ ॥

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः ॥ ९३ ॥

[हितोपदेश]

यह बुद्धिमान है, यह मुझ में प्रीति रखने वाला है, यह शूरवीर है इससे मुझ को भय है, इस प्रकार नौकरों के विचार को समझने वाला राजा सेवकों से पूर्ण रहता है अर्थात् ऐसे विचारशील और गुणज्ञ राजा के पास सेवक लोग उत्साह के साथ चले आते हैं ॥ ९३ ॥

मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा सुस्थे को वा न पण्डितः ॥ ९४ ॥

दो बिगड़े हुए राजाओं में मेल करा देने में मंत्रियों की और सन्निपात के रोग में वैद्यों की बुद्धि देखी जाती है, स्वास्थ्य अवस्था में अर्थात् अच्छी दशा में काम करने के लिये तो कौन पंडित नहीं है ॥ ९४ ॥

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः ॥ ९५ ॥

बड़े २ राजकार्यों की आवश्यक वार्ताओं को ध्यान में रखना, हरएक कार्य में तर्कना करते रहना अर्थात् उस कार्य के हानि लाभ को सोचते रहना और हरएक कार्य के ज्ञान में निश्चय होना अर्थात् बुद्धि को स्थिर रखना, दृढ़ता रखना अर्थात् कठिन कार्यों में भी धीरज रखना और सलाह को गुप्त रखना, यह मंत्री का परम गुण है ॥ ९५ ॥

ये व्यपेताः स्वधर्मात्ते परधर्मव्यवस्थिताः ।
तेषां शास्तिकरो राजा स्वर्गलोके महीयते ॥ ९६ ॥

[अत्रिस्मृति)

जो अपने धर्म में नहीं हैं और पर के धर्म में तत्पर हैं उनकी शिक्षा करने वाला राजा स्वर्गलोक में पूजा को प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ ९७ ॥

[वाल्मीकि]

हे तात ! भला तुमने अपने समान शूरवीर, वेदशास्त्र पढ़े, जितेन्द्रिय, उत्तम कुलवाले, मन की बात जानने वाले मंत्री अपने विश्वास के किये हैं ? ॥ ९७ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ ९८ ॥

[वाल्मीकि]

हे भरत ! राजाओं के मंत्र ही विजय का मूल होता है इससे राजा को चाहिये कि शास्त्र में चतुर, वेदशास्त्र गुरु से पढ़े लिखे ऐसे मंत्रियों से सदा एकांत में सलाह किया करें ॥९८॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्कालेऽवबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ ९९ ॥

[वाल्मीकि]

भला कभी संध्यादि काल में सो तो नहीं जाते व समय पर जागते हो व प्रहर भर रात्रि रहे से उठ कर अपने प्रयोजन के सिद्ध होने की रीति को विचारते हो ? ॥ ९९ ॥

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥ १०० ॥

[वाल्मीकि]

हे भरत ! भला जो काम करना होता है उसका पहिले ही निश्चय करलेते हो कि थोड़े ही उपाय में बड़ा फल हो फिर ऐसे कर्म के करने में शीघ्र ही प्रारम्भ करदेते हो, बहुत देर तो नहीं लगाते ? ॥ १०० ॥

कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥१०१॥

[वाल्मीकि]

भला जो कर्म तुम कर डालते हो व करने पर होते हो

तो ये जो तुम्हारे राज्य में खंडमंडलेश्वर छोटे २ राजा हैं वे तो नहीं जान पाते हैं ? ॥ १०१ ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्त्तिताः ।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥१०२॥
[वाल्मीकि]

हे तात भला विना तुम्हारे कहे सुने तर्कना से व अन्य युक्ति से कोई लोग तुम्हारे अभिप्राय को तो नहीं जान लेते, भला तुम व तुम्हारे मंत्री और की सलाह को युक्तिपूर्वक जान लेते हो वा नहीं ? ॥ १०२ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ १०३ ॥
[वाल्मीकि]

भला सुपरीक्षित पुराने जो पिता पितामहादिकों के मंत्री हैं व कपटरहित श्रेष्ठतर हैं उनको उत्तम कामों में नियोजित करते हो वा नहीं ? ॥ १०३ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वाजितोः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ १०४ ॥
[वाल्मीकि]

भला थोड़ेसे भी अपराध में कहीं अतिकठोर दंड देकर प्रजाओं को व्याकुल तो नहीं करदेते कि जिससे प्रजा व मंत्री आदि सब तुम्हारा अपमान करने लगे हों व जानें कि कैकेयी ही के पुत्र तो हैं क्यों न ऐसे हों ? ॥ १०४ ॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यं संदूषणे रतम् ।
शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स हन्यते ॥ १०५ ॥

[वाल्मीकि]

जो वैद्य उपाय में ऐसा कुशल होवे कि जब जिस रोग को चाहे मिटादे व जब चाहे फिर उसी के ऊपर लौटादे ऐसे वैद्य व जो मंत्री अन्य नौकर चाकरों को बहका देता हो व आप स्वतंत्रता से राज्यैश्वर्य भोगने की इच्छा रखता हो चाहे शूरवीर भी हो, जो राजा ऐसे वैद्य व मंत्री को नहीं मार डालता है तो वह आप उस वैद्य व मंत्री से मारा जाता है तुम्हारे भला कोई ऐसा वैद्य व मंत्री तो नहीं है ? ॥ १०५ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान्मतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ १०६ ॥

[वाल्मीकि]

भला तुमने ढीठ शूर, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन व स्वामी के कार्य में तत्पर सेनापति किया है वा नहीं ॥१०६॥

बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टावदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥१०७॥

[वाल्मीकि]

भला जो बलवान् लोग जिन्होंने बहुत वृत्तांत देखे सुने हैं व सब तरह की लड़ाई लड़ने में चतुर हैं व विक्रम विशेष रखते हैं ऐसे लोगों को प्रिय वचनों व वस्त्र भूषणादि देने से तुमने प्रसन्न रक्खा है व नहीं ? ॥ १०७ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ १०८ ॥
[वाल्मीकि]

भला सेना आदि के जितने छोटे बड़े व साधारण नौकर चाकर हैं उनको प्रतिदिन भोजन व समय पर महीना महीना भरकी नौकरी (तनख्वाह) चुकादेते हो, विलम्ब तो नहीं करते ? ॥ १०८ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥१०९॥
[वाल्मीकि]

भला तुम्हारे वंशवाले लोग तुमको प्रधान समझ तुममें प्रीति रखते हैं जो कि कभी काम पड़ने पर तुम्हारे लिये अपने प्राण भी देने के लिये तैयार हों व दे भी डालें ? ॥ १०९ ॥

कच्चिज्जानपदो विद्वान्दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ११० ॥
[वाल्मीकि]

भला राजनीति जानने वाला चतुर, जिसको कही हुई बात कभी न भूले व सत् असत् कार्य का विवेकी, ज्यों का त्यों सन्देश कहने वाला व अपने मन से भी यथार्थ प्रश्नोत्तर करने वाला व अपने ही देश का रहने वाला दूत किया है व नहीं ? ॥ ११० ॥

कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्ष्यजीविनः ।
वार्तायां सांप्रतं तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ १११ ॥
[वाल्मीकि]

भला खेती करने वाले व गायों के पालन करने वाले, वाणिज्य करने वाले लोग सब तुम्हारे प्यारे आनन्द से बसते हैं व अपना २ काम करके सुख उठाते हैं ? ॥ १११ ॥

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः । ११२ ॥
[वाल्मीकि]

भला इन रोजगारी लोगों की रक्षा डाकू चोरादिकों से करते हो व उनका भरण पोषण होता जाता है क्योंकि राजा को उचित ही यही है कि अपने देश के रहने वाले सब लोगों की रक्षा करता रहे ॥ ११२ ॥

कच्चित्स्त्रियः सांत्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ११३ ॥
[वाल्मीकि]

भला अपनी स्त्रियों को समझाते रहते हो व उनकी रक्षा भली विधि से रखते हो, भला उनकी बातों का विश्वास तो नहीं मानते व मन की गुप्त बात तो कुछ उनसे नहीं कहते ? ॥ ११३ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमे वात्र कारणम् ॥ ११४ ॥
[वाल्मीकि]

भला सब काम काजी निश्शंक हो तुम्हारे निकट तो नहीं चले आते व सब मारे डरके अति दूर तो नहीं रहते क्योंकि राजाओं का मध्यभाव से सेवन करना चाहिये ॥११४॥

कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ११५ ॥
[वाल्मीकि]

भला जितने किले हैं सब रुपया, पैसा, अन्न, पानी, हथियार नाना प्रकार की कलों व धनुर्धारी आदिकों से पूर्ण हैं वा नहीं ? ॥ ११५ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
अपात्रेषु न ते कच्चित्कोषो गच्छति राघव ॥ ११६ ॥
[वाल्मीकि]

हे भरत ! भला तुम्हारे आमद बहुत व खर्च कमतर है वा नहीं, वह भी खर्च अनुचित जुआ आदि खेलने व वेश्यादिकों के देने में तो नहीं होता ॥ ११६ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥ ११७ ॥
[वाल्मीकि]

भला देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, सेना व मित्रों के लिये तुम्हारा धन खर्च होता है वा नहीं ? ॥ ११७ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ११८ ॥
[वाल्मीकि]

भला चोर को चोरी करते देख व पूछने पर उसने अंगीकार भी करलिया तथा सब तरह के सबूत भी पहुंच गये तो भी धन के लोभ से विना दंड दिये उसको छोड़ तो नहीं देते ? ॥ ११८ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥११९॥
[वाल्मीकि]

भला जब कभी किसी तालेवर वा गरीब को कष्ट होता है तो बहुत शास्त्रज्ञ तुम्हारे मंत्री, दीवान तथा न्यायाधीशादि निर्लोभ हो उनका प्रयोजन देखते हैं वा नहीं ? ॥ ११९ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ १२० ॥
[वाल्मीकि]

हे भरत ! निरपराधी लोगों को जब अविचार से दंड दिया जाता है व उन बेचारों के आंसू पृथ्वी में गिरते हैं तो

ऐसे दंड देने वाले राजा व राजसेवक के पुत्र, पशु, धनादिकों को वे आंसू नाश करदेते हैं ॥ १२० ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ १२१ ॥
[वाल्मीकि]

भला कभी अर्थ से धर्म व धर्म से अर्थ व अर्थ धर्म दोनों को लोभ व काम से तो नहीं रोक देते हो कि न होने पाते हों ॥ १२१ ॥

कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर !
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥ १२२ ॥
[वाल्मीकि]

हे भरत भला अर्थ, धर्म व काम इन तीनों का अपने अपने समय पर सेवन करते हो वा नहीं ? ॥ १२२ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ १२३ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ १२४ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदोषांश्चतुर्दश ॥ १२५ ॥
[वाल्मीकि]

भला नास्तिकता, झूठ, क्रोध, अहंकार, दीर्घसूत्रता (सुस्ती), ज्ञानवानों की संगति न करना, आलस्य, देखने सूंघने सुनने खाने आदि के वशीभूत होना, राजकाज के लिये अकेले ही विचार करना, जो लोग जिस बात को नहीं जानते उनसे अर्थात् अयोग्यों से सलाह लेना, जिस बात वा काम का निश्चय हो जावे कि फलां दिन होगा उस दिन उसमें लग्गा न लगाना, सलाह वाली बात सब से कह देना, हरएक काम के आरम्भ में मंगल-शब्दों का न पढ़ना अथवा उन्नति के कार्यों का प्रयोग न करना, सब तरह के नीच व छोटे लोगों को भी देख उठ खड़े होना भला ये जो राजाओं के चौदह दोष होते हैं उनका तुमने त्यागन किया वा नहीं ॥ १२३-१२५ ॥

रामस्य दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः ।
यथा हि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागतः ॥ १२६ ॥

[वाल्मीकि]

हमारी जान रामचन्द्र ही का कोई बड़ा भारी पाप है जिससे कि उनके राज्य में बालकों की भी मृत्यु आ गई ॥ १२६ ॥

संप्रत्यनाथो विषय इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
रामं नाथमिहासाद्य बालान्तकारणं ध्रुवम् ॥ १२७ ॥

[वाल्मीकि]

भाई ! रामचन्द्र को नाथ पाकर भी कि जिसमें बालक भी

मृतक हुये जाते हैं, महात्मा इक्ष्वाकुवंशियों का राज्य अनाथ हो गया ॥ १२७ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्री स्तंभो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पंडित उच्यते ॥ १२८ ॥

[विदुरनीति]

क्रोध, हर्ष, अहंकार, लज्जा, असन्नति, देहाभिमान्यत्व ये जिसको पुरुषार्थ से नहीं गिराते वह पण्डित कहलाते हैं ॥ १२८ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे,
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य ॥ १२९ ॥

[विदुरनीति]

जल्दी जानना, ज्ञान की दृढ़ता के लिये देर तक सुनना, धर्म के लिये धन का सेवन करना काम से नहीं और विना पूछे पराये विषय में नहीं बोलना, यह पण्डित का प्रथम चिह्न है ॥ १२९ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान्प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥१३०॥

[विदुरनीति]

जो बोलने में रुकता नहीं, लौकिक व्यवहार में निपुण, तर्कवान् तथा तत्काल ज्ञानवान् है जिसको शास्त्र कण्ठस्थ है वह पंडित कहलाता है ॥ १३० ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ १३१ ॥
[विदुरनीति]

शास्त्र को नहीं जानने वाला, महा अभिमानी, दरिद्री, अपने आपको बड़ा मानने वाला और बिना व्यापार अथवा जुआं आदि निषिद्ध कर्म से धन की इच्छा करने वाला मनुष्य मूर्ख कहलाता है ॥ १३१ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥१३२॥
[विदुरनीति]

एक से दो को निश्चय कर, चार से तीन को वश में करो तथा पांच को जीत कर, छः जान कर, सात को छोड़कर सुखी हो । इसका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—१ राजनीति पक्ष में—एक जो बुद्धि उससे दो कार्य, अकार्य अर्थात् अच्छे, बुरे कर्म को निश्चय करके, चार जो साम, दाम, दंड, भेद इनसे तीन अर्थात् मित्र, उदासीन, शत्रु इनको वश में करो । जैसे मित्र को साम से, उदासीन को दान वा भेद से और शत्रु को दंड अथवा सब तरह से वश करना और पांच जो इन्द्रियां

उनको जीत कर तथा संधि, विग्रह आदि छः को जानकर सात जो व्यसन जैसे १ स्त्री, २ चौपड़ जुआं आदि, ३ अहेर को जाना, ४ मद्यपान, ५ कटु वचन, ६ दंड में कठोरता, ७ अर्थदूषण इनको छोड़कर सुखी हो । २ आत्मज्ञान पक्ष में—एक बुद्धि से नित्य अनित्य दोनों को निश्चय करना और चार जो शम, दम, उपरम, श्रद्धा इन्हों से तीन जो काम, क्रोध, लोभ को जीतना और पांच पंचेन्द्रियों को जीतना और छः को जानके अर्थात् प्राण की क्षुधा, पिपासा, मन का शोक, मोह, देह की वृद्धावस्था, मृत्यु इनको जानकर अर्थात् यह कोई विकार आत्मा में नहीं है, किन्तु आत्मा तो शुद्ध है और सात जैसे पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन इन्हों के विकारों को त्याग करके अद्वैतानन्द हो सुखी होता है ॥ १३२ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥१३३॥
[विदुरनीति]

गृहस्थ होकर निरारंभ अर्थात् पुत्र आदि के कलह-निवारण में मन नहीं लगाने वाला और संन्यासी होकर कार्यवान् अर्थात् धन आदि के संग्रह से कार्य करने वाला इस प्रकार ये दोनों विपरीत कर्म के करने से शोभित नहीं होते ॥ १३३ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन्स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥१३४॥
[विदुरनीति]

हे राजन् ! यह दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग में स्थित होते हैं एक तो समर्थ होकर क्षमा करने वाला और दूसरा दरिद्री होकर दानी ॥ १३४ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥१३५॥

[विदुरनीति]

हे राजन् ! वरदान, राज्य और पुत्र का होना ये तीनों आनन्द के हेतु हैं परन्तु शत्रुसम्बन्धी कष्ट से छूटना यह एक ही उन तीनों के बराबर है ॥ १३५ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ १३६ ॥

[विदुरनीति]

अपना भक्त, अपना सेवक और मैं तुम्हारा ही हूं इस प्रकार आर्त्त शब्द कहने वाला ऐसे ये तीन, अपनी शरण में प्राप्त हों, तो इन्हों को परम संकट में भी नहीं त्यागना चाहिये ॥१३६॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ १३७ ॥

[विदुरनीति]

सत्य, दान, उद्यम, अनसूया (किसी की निन्दा व ईर्षा न करना), क्षमा (शांति) और धृति (धैर्य) ये छः गुण मनुष्य को कभी भी नहीं त्यागने चाहिये ॥ १३७ ॥

परेषामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ १३८ ॥
[विदुरनीति]

नित्य चित्त में स्थित काम, क्रोध, शोक, मोह, मद और मान इन छओं को जो अपने वश करता है वह जितेन्द्रिय पुरुष कदापि पापों से युक्त नहीं होता तो फिर उसको अनर्थ कहां से प्राप्त होंगे अर्थात् कभी भी नहीं ॥ १३८ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ १३९ ॥
[विदुरनीति]

बुद्धि, कुलाचार, जितेन्द्रियत्व, शास्त्र का जानना, पराक्रम, थोड़ा बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञता अर्थात् किये हुए उपकार को मानना ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं ॥ १३९ ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१४०॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १४१ ॥
[विदुरनीति]

हे धृतराष्ट्र ! मद्यपान से मत्त, प्रमत्त (असावधान), उन्मत्त (दिवाना), श्रांत (परिश्रम से थका हुआ), क्रोध वाला, भूखा, जल्दबाज़, लोभी, डरपोक और कामी (इश्कबाज़) ये दश प्रकार के मनुष्य धर्म को नहीं जानते हैं । इस वास्ते बुद्धिमान् पुरुष इनमें न फंसे अर्थात् इनका विश्वास नहीं करे ॥ १४१ ॥

य: काममन्यू प्रजहाति राजा,
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान्क्षिप्रकारी,
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १४२ ॥

[विदुरनीति]

जो राजा काम क्रोध को त्यागता है, सुपात्र में वा उत्तम कार्य में धन देता है, विशेषवित् अर्थात् न्यायानुकूल कार्य अकार्य को जानता है, वेदादि सत्य शास्त्रों का ज्ञाता है और जो उत्तम कार्य में क्षिप्रकारी अर्थात् कार्य को शीघ्रता से करने वाला है ऐसे ही राजा को सर्व लोक प्रमाण करते हैं अर्थात् भरोसा करते हैं ॥ १४२ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥ १४३ ॥

[विदुरनीति]

जो राजा विश्वास करने योग्य मनुष्यों को जानता है, जो

अपराधी को यथार्थ अपराध जानकर उचित्त दंड देता है, जो दंड तथा बखशीश की मात्रा को जानता है और दयावान् है ऐसे उस उत्तम पुरुष में समग्र (संपूर्ण) अक्षय लक्ष्मी का वास होता है ॥ १४३ ॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचि-
द्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः,
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥ १४४॥
[विदुरनीति]

जो युक्त (छिद्र देखने में तत्पर) अर्थात् अपने घात के विचार वाला पुरुष कोई अबल को भी अनादर नहीं करता और समयानुकूल अपनी उत्तम बुद्धि के अनुसार कहीं अपने से सबल शत्रु की सेवा अर्थात् मिलाप करता है और देश काल के अनुरोध से अपने से बहुत फौजवाले के साथ लड़ाई नहीं करता और ऐसे ही बल अबल देख पराक्रम भी दिखाता है वही धीर कहाता है ॥ १४४ ॥

न योऽभ्यसूयत्यनुकंपते च,
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित्क्षमते विवादं,
सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥ १४५ ॥
[विदुरनीति]

जो किसी से ईर्षा द्रोह नहीं करता किन्तु सब पर दया-भाव ही दर्शाता है, जो आप दुर्बल होकर विरुद्धभाव नहीं करता और बिना पूछे आपही जबर्दस्ती से वादविवाद नहीं ठानता है ऐसा उत्तम पुरुष सर्वत्र (सब जगह) प्रशंसा पाता है ॥ १४५ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं,
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं,
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥ १४६ ॥
[विदुरनीति]

जो शांत हुए वैर को फिर नहीं जगाता, जो कभी अहंकार नहीं करता है, जो एकदम ठंडा भी नहीं होता और विपत्ति में भी जो बुरा कर्म नहीं करता उसी को श्रेष्ठ पुरुष उत्तम सुशील कहते हैं ॥ १४६ ॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः,
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः,
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥ १४७ ॥
[विदुरनीति]

जिसका दुराचरण दूसरों से नहीं जाना गया है तथापि वह आपसे आप ही अतीव लज्जित होता है वह पुरुष सब

लोकों का गुरु अर्थात् पूज्य होता है और बड़ा तेजस्वी, सावधान होता है और तेज से सूर्य के समान प्रकाशित होता है ॥ १४७ ॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठति ॥ १४८ ॥
[विदुरनीति]

जो राजा अपने स्थान (किला), लाभ, हानि, खजाना, देश और फौज इनके प्रमाण को नहीं जानता वह राज्य में नहीं टिकता है अर्थात् उसका अधःपतन होजाता है ॥१४८॥

यस्मात्त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ १४९ ॥
[विदुरनीति]

व्याध से जैसे हरिण डरते हैं उसी प्रकार जिस राजा से प्रजा डरती हो तो वह अन्यायी राजा समुद्रांत भी पृथ्वी का राज्य पावे तो भी नाश को प्राप्त होता है ॥ १४९ ॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा वर्धते भूतिवर्धनी ॥ १५० ॥
[विदुरनीति]

जो सत्य सनातन धर्म का आचरण करता है उस राजा की पृथ्वी ऐश्वर्य बढ़ाने वाली धन धान्य आदि से भरी पूरी रहती है ॥ १५० ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥१५१॥
[विदुरनीति]

दुष्ट मनुष्यों के हिंसा का अर्थात् दूसरों को दुःख पहुंचाने का बल है, राजा लोगों का अपराधियों को दंड देना यही बल है, और स्त्रियों के केवल पति की सेवा करना बल है, और गुणियों के क्षमा एक यही बड़ा बल है ॥ १५१ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१५२॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

इस संसार में दंड ही सब प्रजाओं का शासन करता है, दंड ही सब प्रजाओं की रक्षा करता है, सब प्रजा के सो जाने पर भी प्रजा की रक्षा के लिये दंड ही जागता है अर्थात् सुख-पूर्वक निश्चिंत सोने पर भी दंड के भय से चोर आदि किसी प्रकार उपद्रव नहीं करते और बुद्धिमान् मनुष्य दंड ही को धर्म कहते हैं क्योंकि राजा के दंड के भय से प्राणिमात्र अपने २ धर्म में प्रवृत्त होकर इस लोक तथा परलोक के साधन-भूत कर्मों को करते हैं ॥ १५२ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ १५३ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

इस लोक में राजा न होने के कारण सारा जगत् भय से व्याकुल होगया इस कारण सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करने के लिये प्रभु ने राजा की रचना की इसीसे प्रजा की रक्षा करना ही राजा का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है ॥ १५३ ॥

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुंजरबंधनम् ।
खन्याकरकरादानं संचयार्थाष्टकं मतम् ॥ १५४ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

कृषि को बढ़ाना, वाणिज्य को उन्नति देना, जहां दुर्गम भूमि हो वहां प्रजा की रक्षा के लिये दुर्ग (क़िला) बनाना, देश की वृद्धि के लिये तालाब, सड़क तथा नदियों पर पुलें बनवाना, थाने नियत करना (या अपने देश में जहां पुलें न हों वहां नदी आदि को तरने के लिये तटों पर हाथी तथा नौका रखना) गेरू और पाषाण आदि की खानों को प्रगट करना, सुवर्ण आदि धातुओं की खानों की सावधानीपूर्वक रक्षा करना, मालगुज़ारी आदि के लेने में देर नहीं करना ये आठों ही कार्य धन संग्रह करने के निमित्त हैं ॥ १५४ ॥

नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि ।
अंतरस्थैर्गुणैः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनाचित् ॥ १५५ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

जैसे दीपक बत्ती के द्वारा पात्र से तैल को खेंचता हुआ किसी को प्रतीत नहीं होता वैसे ही बुद्धिमान् राजा प्रजा की

पालना के लिये प्रीतिपूर्वक नियत किये हुए श्रेष्ठ करों से प्रजा का धन हरता हुआ किसी को भी प्रतीत नहीं होता अर्थात् बुद्धिमान् राजा को चाहिये कि प्रजा में अत्यन्त प्रीति प्रगट करता हुआ अनेक सूक्ष्म २ लगानों से धन को खेंचै ॥ १५५ ॥

कर्णेजपानां वचनप्रपंचा-
न्नृपा गुणज्ञा न च दूषयन्ति ।
भुजंगमानां गरलप्रसंगा-
न्नापेयतां यांति महासरांसि ॥ १२६ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

निंदक पुरुषों के वाक्यरूप प्रपंच से बुद्धिमान् राजा कदापि दूषित नहीं होता जैसे सरोवर में रहने वाले सर्पों के विष से बड़े सरोवरों का जल विषैला नहीं होता ॥ १५६ ॥

नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मंत्रं प्रकाशयेत् ।
विसृजेन्नैव लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ १५७ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

परीक्षा किये बिना किसी को दंड नहीं देवै, मंत्र (राज्यसम्बन्धी गुप्तरीति के विचार) को प्रगट नहीं करै, लोभियों के सङ्ग नहीं जाना चाहिये और शत्रुओं का कदापि विश्वास न करै ॥ १५७ ॥

मृदोः परिभवो नित्यं वैरं तीक्ष्णस्य नित्यशः ।
उत्सृज्य तद्द्वयं तस्मान्मध्यां वृत्तिं समाश्रयेत् ॥ १५८ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

अत्यन्त कोमल स्वभाव वाले की सदा हार होती है और अत्यन्त तीक्ष्ण स्वभाव से सम्पूर्ण वैरी हो जाते हैं इस कारण उक्त दोनों ही स्वभावों को छोड़कर मध्यमवृत्ति को धारण करै ॥ १५८ ॥

नित्यं मनोपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत् ।
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोऽपि सन् ॥१५६ ॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

राजा को चाहिये कि, मन को हरने वाली सुन्दर वाणी से सब को सदा हर्षित रक्खे कारण कि अदानी हो तो भी मधुर वचन बोलने से सब जगत् वशीभूत हो जाता है और धन देने वाला होकर भी यदि क्रूर वचन बोले तो सम्पूर्ण जन उद्वेग को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५६ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि गजेन्द्राश्चापि वाजिनः ।
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥१६०॥
[अक्षयनीतिसुधाकर]

सुवर्ण, धान्य और नाना प्रकार के रत्न, अच्छे श्रेष्ठ हाथी और घोड़े तथा और भी जो कुछ पदार्थ हैं वे राजा को प्रजा ही से प्राप्त होते हैं ॥ १६० ॥

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं न करणीयम् ।

जो कार्य यद्यपि शुद्ध और धर्मयुक्त हो किन्तु लोक में निन्दित हो तो वह कार्य कदापि नहीं करना चाहिये ॥

नाश्लीलं कीर्तयेत्कांचित्प्रलापं न च कारयेत् ।
अस्वर्ग्यं स्याद्धर्म्यमपि लोकविद्वेषितं तु यत् ॥१६१॥
[शुक्रनीति अ० ३]

अयोग्य और अनर्थक वचन किसी के प्रति न कहे क्योंकि सब जगत् का जिसमें वैर हो वह धर्म का काम भी स्वर्ग देने वाला नहीं होता ॥ १६१ ॥

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्ममप्याचरेन्न तु ।

जो कार्य धर्मयुक्त हो परन्तु लोकविरुद्ध होवे तो उसको नहीं करना चाहिये क्योंकि वह कार्य स्वर्ग का देने वाला नहीं होता ॥

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ॥
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥१६२॥
[भर्तृहरि]

दुष्टजनों की याचना कदापि न करना, तथा निर्धन अथवा अल्पधन वाले मित्र से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता न चाहना, न्यायपूर्वक जीवनोपाय करने में अभिरुचि रखना, तथा प्राण नाश होने का भय रहते भी दुष्टकर्म में कदापि प्रवृत्त न होना, विपत्तिकाल में धैर्य रखना और गुरुजनों के

मार्ग में गमन करना इस प्रकार के कठिन असिधाराव्रत को धारण करने के निमित्त सत्पुरुषों को यद्यपि किसी ने भी उपदेश नहीं दिया है, तथापि साधुजन स्वभाव ही से इसका अवलंबन किया करते हैं ॥ १६२ ॥

दशकुमार चरित्र से उद्धृत ।

विदर्भ नाम का देश था। उसमें भोजवंश का भूषण, धर्म के अंशावतार के सदृश, बड़ा बलिष्ठ, सत्यवादी, महादानी, नम्रस्वभाव, प्रजाओं को उचित मार्ग में चलाने वाला, सेवकों को प्रसन्न रखने वाला, कीर्त्तिमान्, उन्नत अर्थात् ऊंचे विचार वाला, शास्त्र की मर्यादा के अनुसार चलने वाला, अपनी शक्ति के अनुसार दूसरों से प्रशंसा किया जाय और न्याययुक्त हो ऐसे काम को करने वाला, अपने सेवकों पर प्रभाव रखने वाला (अर्थात् वे निःशंक न हो जावें), अपने बन्धुओं का पोषण करने वाला, शत्रुओं को दबाने वाला, बे सिर पैर की व्यर्थ बातों को न सुनने वाला, गुणों में रसिकता कभी भी न छोड़ने वाला, कलाकौशल में बहुत चतुर, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का सदा निकटवर्ती, थोड़ासा भी भला करने पर खूब उपकार करने वाला, खजाना और सवारी की सम्भाल रखने वाला, सब महकमों के अफसरों की पूरी तवज्जह के साथ निगरानी रखने वाला, सेवा में सफलता प्राप्त करने वालों का उचित दान मान से उत्साह बढ़ाने वाला, दैवी

और मानुषी आपदाओं का शीघ्रता से प्रबन्ध करने वाला, नीति के छः* गुणों के उपयोग में निपुण, मनु के धर्म के अनुसार चारों वर्णों के नियम बनाने वाला, पवित्र कीर्ति वाला, पुण्यवर्मा नाम का राजा हुआ।



* संधि (मेल)। विग्रह (लड़ाई)। यान (चढ़ाई)। आसन (क़िले में रहना)। द्वैधीभाव (सेना के दो भाग करना)। संश्रय (अपने से बलवान् का आश्रय लेना)।

प्रस्ताविक

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता,
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगम्भीरता ।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञातृता
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता त्वय्यस्ति भो राघव ॥ १ ॥

[सुभाषितरत्न०]

धर्म में सर्वदा प्रीतिभाव के साथ लगे रहना, मुख से मधुर भाषण करना, सत्पात्र को दान देने में उत्साह रखना, मित्र को कभी धोखा न देना, अपने से बड़ों में विनयभाव रखना, चित्त में गम्भीरपना, आचरण में पवित्रता, गुणों में रसिकपना, शास्त्रों का अच्छी तरह जानना, रूप में सुन्दरता, सदा शिव में भक्ति रखना ये सम्पूर्ण गुण हे रामचन्द्रजी! आपही में हैं ॥ १ ॥

हे हे यशोदे तव बालकोऽसौ मुरारिनामा वसुदेवसूनुः ।
आदाय वस्त्राभरणं मदीयं गतोऽपि दूरे यमुनानिकुंजे ॥ २ ॥

[भागवत]

हे यशोदा मुरारि नाम वाला तथा वसुदेव का पुत्र जो तेरा लड़का श्रीकृष्ण है, वह मेरे वस्त्र और गहने लेकर बहुत दूर यमुना के निकुंज में चला गया ॥ २ ॥

विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्,
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥ ३ ॥

दुष्टों की विद्या विवाद के लिये, धन अभिमान के लिये, और सामर्थ्य दूसरों को दुःख पहुंचाने के लिये होते हैं और सज्जन पुरुषों में ये ही गुण विपरीत कार्य करते हैं अर्थात् उनकी विद्या तो ज्ञान के लिये, धन दान के लिये और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिये होती है ॥ ३ ॥

विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्त्तते ।
न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि ॥ ४ ॥

पथ्य में चलने से विना दवा भी बीमारी मिट जाती है और जो पथ्य में नहीं चलता है उसकी बीमारी सैकड़ों दवाओं से भी नहीं मिट सकती ॥ ४ ॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥ ५ ॥

जवानी, धन की बढ़वारी, स्वामीपन और मूर्खता इन चारों में से यदि एक भी होवे तो अनर्थ कर देती है और जहां ये चारों होवें वहां की तो बात ही क्या ? ॥ ५ ॥

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति ।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी ॥ ६ ॥

जिसकी आशा थी वह तो अब बहुत दूर जा पड़ा, और जिसका कभी ध्यान भी नहीं आया था वह सन्मुख आ गया है, जो मैं प्रातःकाल पृथ्वी का चक्रवर्त्ती राजा होनेवाला था वही मैं जटाधारी तपस्वी बनकर वन को प्रस्थान करता हूं ॥ ६ ॥

जीर्णो जतुव्यासनिरुद्धरन्ध्रः
कुम्भश्च मौञ्जी तरुवल्कलञ्च ।
एतेषु यन्मां विनिहत्य गम्यं
तद्गृह्यतामस्तु भवान्कृतार्थः ॥ ७ ॥

पुराना और चिपड़ी से जिसके छिद्र बन्द कर रक्खे ऐसा तो घड़ा, मौंजी और वृक्षों की छाल, मुझ को मार कर इनमें से जो तुझको प्राप्त होने योग्य है अर्थात् इन में से जो कुछ तू लेना चाहता है वह ले ले और कृतार्थ होजा ॥ ७ ॥

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते !
नैकेनापि समं गता वसुमतिर्मन्ये त्वया यास्यति ॥८॥

[भोजराजस्य]

सतयुग का आभूषण रूप राजा मान्धाता स्वर्ग को चला गया, जिसने समुद्र में सेतु बांधी वह रावण का काल रामचंद्र कहां है ? हे राजन् और भी युधिष्ठिर आदि राजा स्वर्ग को चले गये इनमें से एक के साथ भी यह पृथ्वी नहीं गई परंतु ऐसा मालूम होता है कि यह पृथ्वी अब तेरे साथ जायगी। अर्थात् तू इसको छाती पर धर कर लेजायगा कि जिसके कारण तू ऐसे पापकर्म करने पर उतारू हो रहा है ॥ ८ ॥

भारवाह ! भराक्रान्त ! भारस्त्वामति वाधति ।
भारो न वाधते विद्वन्यथा वाधति वाधते ॥ ९ ॥
[भोजप्रबन्ध]

हे वोझ से दबे हुए भारवाह ! तुझको वोझा वहुत पीड़ा करता है ? उत्तर—हे विद्वन् मुझको बोझा इतना नहीं सताता है जितना मुझको आत्मनेपदि के प्रयोग "वाधते" के स्थान में तुम्हारे मुख से निकला हुआ परस्मैपदि का अशुद्ध 'वाधति' ऐसा प्रयोग दुःख देता है ॥ ९ ॥

घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावलिः
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥ १० ॥
[हितोपदेश]

गर्मी से तपे हुए मनुष्य को शीतल जल से स्नान करने,

मोतियों की माला धारण करने, और अंग २ में चन्दन लगाने से भी जिस सुख की प्राप्ति नहीं होती है, मनुष्य को उससे भी विशेष सुख, युक्ति और सत्कारपूर्वक सज्जन पुरुषों की बातों से मिलता है क्योंकि सज्जन पुरुषों का वार्तालाप तो एक प्रकार का आकर्षण मंत्र ही है ॥ १० ॥

प्रणमत्युन्नतिहेतो-
र्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः
को मूढः सेवकादन्यः ॥ ११ ॥

[हितोपदेश]

ऊंचा होने के लिये नीचा बनता है, जीने के लिये प्राण देता है और सुख पाने के लिये दुःख पाता है सेवक के सिवाय और मूर्ख कौन है ॥ ११ ॥

साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम् ।
सरसो विपरीतश्चेत्सरसत्वं न मुञ्चति ॥ १२ ॥

जिस प्रकार "साक्षरा" शब्द के उलटा करने से "राक्षसा" शब्द हो जाता है और "सरस" शब्द के उलटा पढ़ने से भी वह "सरस" ही पढ़ा जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य साक्षर अर्थात् पढ़े लिखे तो हैं किन्तु उनमें सरसता अर्थात् दयालुता नहीं है तो वे मनुष्य जब किसी पर नाराज़ होते हैं तब उसके साथ राक्षसों का सा क्रूर व्यवहार करने

लगते हैं, परन्तु जो मनुष्य सरस (दयालु) हैं वे नाराज़ होने पर भी अपनी स्वाभाविक दयालुता को नहीं छोड़ते ॥ १२ ॥

कस्त्वं भद्र खलेश्वरोऽहमिह किं घोरे वने स्थीयते
सिंहव्याघ्रभुजङ्गभल्लकगणैः खाद्योऽहमित्याशया ।
कस्मात्कष्टमिदं त्वया व्यवसितं मद्देहमांसाशनात्
प्रत्युत्पन्ननृमांसभक्षणधियस्ते घ्नंतु सर्वान्नरान् ॥१३॥

प्रश्न—हे मंगलीक ! तुम कौन हो ?

उत्तर—मैं दुष्टों का राजा हूं ।

प्रश्न—आप इस घोर वन में क्यों ठहरे हुए हैं ?

उत्तर—सिंह व्याघ्र सर्प रीछ ये मुझे खा लेवें इस आशा से ।

प्रश्न—आपने यह कष्ट उठाना क्यों विचारा है ?

उत्तर—मेरे देह का मांस खाने से इन जीवों को मनुष्य के मांस भक्षण करने की चाट पड़ जावे कि जिससे ये सब मिल कर मनुष्यों को मारा करें ॥ १३ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ १४ ॥
[हितोपदेश]

गुण गुण के जानने वालों में तो गुण होते हैं और वे ही गुण निर्गुण मनुष्य को प्राप्त होकर दोष हो जाते हैं जैसे नदियां मिष्ट जल वाली होती हैं किन्तु वे ही समुद्र में पहुंच कर न पीने योग्य अर्थात् खारी हो जाती हैं ॥ १४ ॥

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत्कपिचमू-
र्गुहोऽभूच्चाण्डालस्तदपि गमितास्ते निजपदम् ।
अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणात्
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम् ॥१५॥

अहल्या तो पत्थर थी, वानरों की सेना स्वभाव से ही पशु थी तथा गुह चाण्डाल था उनको भी आपने निजपद अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर दिये, मैं चित्त से तो पत्थर हूं और आपके पूजन आदि के न करने से पशु भी हूं तथा क्रियाओं से चाण्डाल हूं अर्थात् जो दोष उन तीनों में भिन्न २ थे वह मुझ एक ही में मौजूद हैं फिर हे राम ! क्या आप मेरा उद्धार नहीं करेंगे ॥ १५ ॥

वयस्याः ! क्रोष्टारः ! प्रतिशृणुत बद्धोऽञ्जलिरयं
किमप्याकाङ्क्षामः क्षरति न यथा वीरचरितम् ।
मृतानामस्माकं भवति परवश्यं वपुरिदं
भवद्भिः कर्त्तव्यौ नहि नहि पराचीनचरणौ ॥ १६ ॥

हे मित्र ! शृगालो ! सुनो मैं आप से हाथ जोड़ता हूं मैं कुछ ऐसी इच्छा करता हूं कि जिसमें मेरा वीर चरित्र नष्ट न

होवे, जिस समय हमारा मरण हो जावे उस समय यह हमारा मृतक शरीर शत्रुओं के वश में प्राप्त होकर बेइज्जत न होवे किन्तु आप लोग उस समय मेरे शरीर को रणक्षेत्र छोड़कर शत्रुओं के सामने से पिछाड़ी पैर कर न हटें, यही आपका मेरे साथ सुहृद्भाव अर्थात् मित्रता है ॥ १६ ॥

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ॥ १७ ॥
[हितोपदेश]

आपत्ति के समय, खोटे मार्ग में चलते समय और काम का अवसर टलते समय, हितकारी मनुष्य को चाहिये कि बिना पूछे भी हित की वार्ता कहदे ॥ १७ ॥

मित्रं स्वच्छतया रिपुं नयबलैर्लुब्धं धनैरीश्वरं
कार्येण द्विजमादरेण युवतिं प्रेम्णा समैर्बान्धवान् ।
अत्युग्रं स्तुतिभिर्गुरुं प्रणतिभिर्मूर्खं कथाभिर्बुधं
विद्याभी रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद्वशम् ॥ १८ ॥

निष्कपटता से मित्र को, नीति और बल से शत्रु को, धन से लोभी को, सेवा से स्वामी को, आदर सत्कार से ब्राह्मण को, प्रेमालाप आदि से स्त्री को, समान व्यवहार आदि से भाई बान्धवों को, तेज स्वभाव वाले को उसकी बड़ाई से, बड़ों को प्रणाम से, मूर्ख को किस्से कहानियों से, पंडित को विद्या से, रसिक को रस से, और सदाचार वा उत्तम स्वभाव से सब संसार को अपने वश में कर लेवे ॥ १८ ॥

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो
न वंचनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ १९ ॥

[किरातार्जुनीय]

हे राजन्! काम में लगाये हुए नौकरों को चाहिये कि वे अपने स्वामी को कभी धोखा न देवें क्योंकि वे उसके नेत्र हैं, इसलिये आप मेरे अच्छे वा बुरे वचन को क्षमा करें क्योंकि हित करने वाला और मन को भी प्रिय लगने वाला वचन दुर्लभ होता है ॥ १९ ॥

निरंतरं स्वामिनि जीवदानात् प्राणव्ययेनापि न मार्जितार्णः ।
कदापि मोहादनये प्रवृत्तं निवारयँस्तं कृतकृत्यमास्ते ॥२०॥

सर्वदा स्वामी के लिये जीवदान करके अपने प्राणों के नाश होने पर भी अपना ऋण दूर हुआ नहीं समझता। किसी काल में स्वामी मोह से अन्याय में प्रवृत्त हो जावे तो उसको निवारण करके अपने को कृतकृत्य मानता है ॥ २० ॥

क्षुधातुराणां न बलं न तेजः
चिन्ताऽऽतुराणां न सुखं न निद्रा ।
कामातुराणां न भयं न लज्जा
अर्थातुराणां स्वजनो न मित्रम् ॥ २१ ॥

जो भूख से व्याकुल हैं उनको न तो बल है और न तेज है, जो चिन्ता से व्याकुल हैं उनको न सुख है न निद्रा है, काम से जो व्याकुल हैं उनको न भय है न लज्जा है और जो लोभी हैं उनके न तो कोई स्वजन है और न मित्र है ॥ २१ ॥

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान्यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।
सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥२२॥

जो अहित की बातों से बचाता है वही स्नेही है, जो निर्मल अर्थात् दोषरहित है वही कर्म है, जो आज्ञा के अनुसार चलने वाली है वही स्त्री है, जो सत्पुरुषों से बड़ाई किया जाता है वही बुद्धिमान् है, जो अभिमान पैदा नहीं करती है वही लक्ष्मी है, जिसको तृष्णा नहीं सताती है वही सुखी है, जो अकृत्रिम अर्थात् निष्कपट है वही मित्र है, जो इन्द्रियों को वश में कर लेता है अर्थात् जितेन्द्रिय है वही पुरुष है ॥ २२ ॥

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः ।
जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः
किं वाऽमृतं स्यात्सुखदा निराशा ॥ २३ ॥

दरिद्री कौन है ? जिसके बड़ी भारी तृष्णा है। श्रीमान् कौन है ? जिसके सम्पूर्ण संतोष है। जीता हुआ ही मरे के समान कौन है ? जो निरुद्यमी है। अमृत क्या है ? सुखको देने वाली आशारहित चित्त की वृत्ति। अथवा जीता हुआ कौन है ? जिसके कोई आशा नहीं है ॥ २३ ॥

गतं न शोचामि कृतं न मन्ये,
खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्
किं कारणं भोज ! भवामि मूर्खः ॥ २४ ॥

[भोजप्रबन्ध]

न तो मैं गई हुई वस्तु वा बात का शोक करता हूं, न अपने किये हुए उपकार का अभिमान करता हूं, न मैं खाता हुआ मार्ग में चलता हूं, न हंस कर किसी से बात करता हूं और न मैं दो मनुष्यों की गुप्त बातों के समय उनके पास जाता हूं, हे राजा भोज ! फिर मैं किस कारण से मूर्ख हो सकता हूं ॥ २४ ॥

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ २५ ॥

विश्वास को प्राप्त हुए मनुष्यों के ठग लेने में क्या चतुराई है। गोद में पड़कर सोते हुए मनुष्य के मार डालने में क्या वीरता है ॥ २५ ॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।
गतः प्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ २६ ॥

राजा को चाहिये कि गुप्तरूप से शत्रु के साथ मिले हुए मित्र से प्रत्यक्ष में बहुत ही मिला हुआ रहे क्योंकि उसको निकाल कर वापिस रख लेने से वह कष्टसाध्य शत्रु हो जाता है ॥ २६ ॥



शान्ति ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ १ ॥
[भगवद्गीता]

आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि दुःखों के प्राप्त होने पर जिसका मन विचलित नहीं होता, सुखों के प्राप्त होने पर जिसकी उन पर तृष्णा नहीं बढ़ती, राग, भय, क्रोध ये जिससे दूर रहते हों, स्थिर बुद्धि वाला वह संन्यासी कहलाता है ॥१॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ २ ॥
[भगवद्गीता]

जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है और न जो लोगों से क्लेश पाता है । ऐसे ही जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है, वही मुझे प्रिय है ॥ २ ॥

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ ३ ॥
[भगवद्गीता]

सत्व अर्थात् सतोगुण से ज्ञान, और रजोगुण से केवल लोभ उत्पन्न होता है, तमोगुण से न केवल प्रमाद और मोह ही उपजता है प्रत्युत अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ ४ ॥
[भगवद्गीता]

जिसे मान अपमान या मित्र और शत्रुदल समान हैं अर्थात् एक से हैं और (इस समझ से कि प्रकृति सब कुछ करती है) जिसके सब उद्योग छूट गये हैं उस पुरुष को गुणातीत कहते हैं ॥ ४ ॥

साधवो न्यासिनः शांता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥ ५ ॥
[भागवत स्कं ९ । अ० ९ । श्लो० ६]

[भागीरथ राजा के तपस्या करने पर गंगाजी ने कहा कि मृत्युलोक के पापी मनुष्य मेरे में पाप त्यागन करेंगे उन पापों को मैं कैसे मिटाऊंगी तब भागीरथ ने कहा] संसार-त्यागी, ब्रह्मनिष्ठ, साधु लोग अपने लोकपावन अंगों से आपकी अपवित्रता हर लेंगे क्योंकि उनके हृदय में सब अघहारी भगवान् विराजमान रहते हैं, इसलिये वह लोग पाप का विनाश करने को समर्थ हैं ॥ ५ ॥

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य,
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं,
तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेति येन ॥ ६ ॥
[भर्तृहरिशतक]

हे मन ! तू अपनी स्वाभाविक चंचलता से कभी तो पाताल में प्रवेश कर जाता है, कभी आकाश में उछल कर जाता है और कभी दशों दिशाओं में इधर उधर भ्रमण करता फिरता है परन्तु कैसे दुःख की बात है कि तू भूल कर भी उस स्वयंप्रकाश परब्रह्म का कभी स्मरण नहीं करता कि जिसके चिन्तवन करने से तेरा मोक्ष हो सकता है ॥ ६ ॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि,
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः ।
चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितुः,
निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्मप्रदम् ॥७॥

[भर्तृहरिशतक]

यह तुम्हारे मिलने का समय नहीं है, इस समय एकान्त हो रहा है अथवा स्वामी शयन कर रहे हैं, ठहर कर क्यों देख रहे हो, ऐसा करने से स्वामी नाराज होते हैं, जिनके द्वार पर जाने से इस प्रकार के वचन सुनने पड़ते हैं । हे चित्त ! तूं ऐसे (विभवशाली) पुरुषों को छोड़ कर उस विश्वेश्वर भगवान् के मंदिर में क्यों नहीं जाता कि जहां पर पूर्वोक्त प्रकार के कटुवचन बोलने वाले कोई द्वारपाल नहीं रहते और जहां जाने से तुमको अपार सुख व आनन्द की प्राप्ति सहज ही होगी ॥ ७ ॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः,
सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः ।

येषां निर्झरतोयपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गना,
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥ ८ ॥
[भर्तृहरिशतक]

पर्वत-शिला को शय्या, गिरिगुहा को घर वृक्षों के वल्कल को वस्त्र, हरिणों को मित्र, वृक्षों के कोमल फलों का भोजन, निर्झर के जल को उचित जलपान और विद्यारूप स्त्री को विलास का कारण समझ कर जो महापुरुष दूसरों के सामने सेवक की तरह हाथ जोड़ कर खड़े नहीं होते वे निस्सन्देह धन्य हैं ॥ ८ ॥

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा,
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः,
सदा पुण्येऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥ ९ ॥
[भर्तृहरिशतक]

सर्प में वा हार में, बलवान् शत्रु में वा मित्र में, मणि में वा लोहे में फूलों की शय्या में वा पर्वत की चट्टान में, तृण में वा स्त्रीजन में समान भाव से देखते हुए मेरे जीवन के शेष दिन किसी पवित्र जंगल में शिव नाम का उच्चारण करते हुए व्यतीत होवें ॥ ९ ॥

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित्फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।

भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशंकया काकवत्,
तृष्णेजृम्भसि पापकर्मनिरते नाद्यापि संतुष्यसि ॥ १० ॥
[भर्तृहरिशतक]

अनेक पहाड़ों के ऊंचे नीचे देशों में भ्रमण किया तो भी कुछ फल प्राप्त न हुआ। अपनी जाति तथा कुल का उचित अभिमान छोड़कर जो सेवा की वह भी निष्फल हुई। मान-रहित होकर पराये घर में डरते २ कव्वे की तरह भोजन किया है। हे पाप कर्म कराने वाली तृष्णा! तू अब भी संतोष को प्राप्त नहीं होती है ॥ १० ॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः,
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदे,
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥ ११ ॥
[भर्तृहरिशतक]

बहुत से क्लेश भी सहे परन्तु क्षमापूर्वक न सहे, घर के सुख का त्याग भी किया परन्तु संतोष से नहीं किया, ठंड हवा और धूप के कष्ट भी सहे परन्तु तपस्या नहीं की, निश्चल मन से रात दिन धन का चिन्तवन भी किया, परन्तु सदा शिव के चरण-कमलों का चिन्तवन नहीं किया, अतएव मुनिजनों के करने योग्य कर्मों के करने पर भी हम उनके सच्चे फलों से रहित ही रहे ॥ ११ ॥

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाद्भयं,
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥१२॥

[भर्तृहरिशतक]

भोगविलास में रोगादि के उत्पन्न होने का, सत्कुल में वंशपरम्परा के टूटने का, द्रव्य में राजा का, मौन धारण करने में दीनता का, पराक्रम में शत्रु का, सुन्दरता में बुढ़ापे का, शास्त्र में विवाद का, गुण में दुर्जन का, शरीर में मौत का भय सर्वदा बना रहता है। इस पृथिवी पर मनुष्यों के लिये सब पदार्थ भययुक्त हैं केवल एक वैराग्य ही भयरहित है ॥ १२ ॥

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव, वपुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ १३ ॥

[भर्तृहरिशतक]

जबतक यह शरीर रोगरहित रहे, जबतक बुढ़ापा न आ जावे, जबतक इन्द्रियों की शक्ति वर्त्तमान रहे तथा जबतक आयु का क्षय न हो जावे, अपने इस शरीर से आत्मकल्याण अर्थात् परलोक-साधन में बड़ा ही उपाय करना चाहिये। घर जल उठने पर कुए का खोदना कैसा प्रतीकार है ॥ १३ ॥

पंचभिर्निर्मिते देहे पंचत्वं च पुनर्गते ।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिवेदना ॥ १४ ॥

यह देह पांच पदार्थ अर्थात् पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश से बना हुआ है और मरने पर उक्त पांचों पदार्थ अपने २ कारण में लय हो जाते हैं फिर इस मरण की क्या चिन्ता है ॥ १४ ॥

दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति यो गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥ १५ ॥
[महाभारत]

जिसके घर में दिन के आठवें भाग अर्थात् चार घड़ी दिन पिछले से भी शाक पचता है ऐसी दीन हीन दशा वाला मनुष्य भी यदि ऋणरहित अर्थात् उस पर किसी का कर्ज़ा नहीं है और स्वदेश में रह कर निर्वाह करता है तो वह मनुष्य आनन्द से है ॥ १५ ॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरं ।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥१६॥
[महाभारत]

प्रतिदिन प्राणी यमलोक को जाते हैं अर्थात् मरते हैं किन्तु जो मरने से बचे हुए हैं अर्थात् जीवित हैं वे स्थिर रहने की इच्छा करते हैं इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा ॥१६॥

नाचलानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
यमस्य करुणा नास्ति कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥ १७ ॥

शरीर स्थिर नहीं है, संपदा सदा नहीं रहती, यमराज के दया नहीं है इस कारण धर्म का संग्रह करना चाहिये ॥१७॥

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ॥१८॥

हीन दशा को प्राप्त हो कर मनुष्य दैव की निन्दा करता रहता है किन्तु मूर्ख अपने कर्मों के दोषों को नहीं जानता है ॥ १८ ॥

कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्मानुभाव्यते ॥ १९ ॥

परोक्षकालिक गुणवृत्तियां सब जगह कर्मों से जानी जाती हैं इस हेतु से परोक्षवृत्तियों का कर्मफलों से जाना जाता है ॥ १९ ॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम् ।
अविप्लुतमनाः पार्थ मुक्त एव न संशयः ॥ २० ॥

अनुरागवती स्त्री को तथा मृत्यु को समीप आई हुई देख कर जिसके मन की शान्ति भंग नहीं होती है, हे अर्जुन ! वह मनुष्य मुक्त ही है इसमें संशय नहीं ॥ २० ॥

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति,
विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥ २१ ॥

विद्या, तप, योग और समाधि को साधन करने वाले तथा पवन है अन्तरात्मा जिनकी ऐसे योगिराजों की गति त्रिलोकी के भीतर और बाहर है ऐसा पण्डित लोग कहते हैं। उस गति को मनुष्य यज्ञदानादि कर्मों से नहीं पा सकते ॥ २१ ॥

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो ।
पुञ्जपापपहीनस्स नत्थि जागरतो भयं ॥ २२ ॥
[धम्मपद वग्ग ३ । श्लोक ७]

जिसकी तृष्णा की तीव्र धारा नहीं व्यापती और जिसका मन क्रोध के तीक्ष्ण शस्त्र से आहत नहीं होता तथा पुण्य पाप दोनों को त्यागने वाला होता है उसको (मोहरूपी करालनिद्रा से) जागने के कारण जन्म मरण का भय नहीं रहता है ॥ २२ ॥

तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं ।
सम्मदञ्ञाविमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति ॥ २३ ॥
[धम्मपद वग्ग ४ । श्लोक १३]

सदाचारी, निरालसी तथा जिन्होंने अपने मन को विषय-वासना से हटा लिया है ऐसे महात्माओं की गति को कामदेव भी नहीं जान सकता है ॥ २३ ॥

एवं संकारभूतेसु अन्धीभूते पुथुजने ।
अति रोचति पञ्जाय सम्मासम्बुद्धसावको ॥ २४ ॥
[धम्मपद वग्ग ४ । श्लोक १६]

वैसे ही अपवित्र खाद की ढेरी के समान विषयासक्त मूर्खों के मध्य में बुद्ध भगवान् के सिद्धिप्राप्त शिष्यगण वैराग्य ज्ञान द्वारा अति शोभायमान होते हैं ॥ २४ ॥

सव्वपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानसासनम् ॥ २५ ॥
[धम्मपद वग्ग १४ । श्लोक ५]

किसी तरह का पाप न करना, पुण्य कर्म उत्पादन करना, अपने मन को पवित्र रखना यही बुद्धों के शासन (उपदेश) हैं ॥ २५ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं त-
द्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधो-
रन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ २६ ॥
[रघुवंश १३ से ७८ श्लोक]

लङ्कापति रावण की प्रणयपूर्ण प्रणति के भङ्ग करने के व्रत की रक्षा में दृढ़ता दिखाने वाले श्री जानकीजी के वन्दनीय चरण युग्म ने और अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति

में जटाधारी बनने वाले साधुशिरोमणि भरतजी के मस्तक ने, परस्पर मिल कर, एक दूसरे की पवित्रता को और भी अधिक कर दिया ॥ २६ ॥

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय,
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य,
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥ २७ ॥

[माघ]

मैत्री[1] आदि चित्त को शुद्ध करने के साधनों को प्राप्त करके पंच[2] क्लेशों की निवृत्ति करके सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के पश्चात् प्रकृति और पुरुष के भिन्न २ होने के ज्ञान को प्राप्त करके तदनंतर उस प्रकृति, पुरुष के भिन्न होने रूप यथार्थ ख्यातिरूप संकल्प को भी निरोध करने की योगीजन इस पर्वत में रहते हुए इच्छा करते हैं ॥ २७ ॥



१--मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ।

२--अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ।

प्रार्थना

विघ्नध्वान्तनिवारणैकतरणिर्विघ्नाटवीहव्यवाट्,
विघ्नव्यालकुलाभिमानगरुडो विघ्नेभपञ्चाननः ।
विघ्नोत्तुङ्गगिरिप्रभेदनपविर्विघ्नाम्बुधौ वाडवो,
विघ्नाघौघघनप्रचण्डपवनो विघ्नेश्वरः पातु नः ॥१॥

विघ्नरूप अन्धकार के निवारण के लिये सूर्यरूप, विघ्नरूप गहन वन के लिये अग्निरूप, विघ्नरूप सर्पकुल के अभिमान (खण्डन) के लिये गरुड़रूप, विघ्नरूपी हाथी के लिये सिंहरूप, विघ्नरूपी ऊंचे पर्वत के भेदन के लिये वज्ररूप, विघ्नरूप समुद्र (शोषण) के लिये वाडवाग्निरूप, विघ्न तथा पापों के समूहरूपी मेघों के लिये प्रचण्ड पवनरूप, ऐसे विघ्नराज "श्रीगणेजी" हमारी रक्षा करें ॥ १ ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतस्तुन्वन्ति दिव्यैस्स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यांतं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥२॥

[गीता का ध्यान]

जिसकी ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुत् आदि देवता दिव्य स्तोत्रों से स्तुति करते हैं, सामवेद के गान करने वाले महर्षिगण अंग और उपांग सहित वेद तथा उपनिषदों से जि-

सका गान करते हैं, ध्यान में एकाग्रता से लगाये हुए मन से योगीराज जिसका दर्शन करते हैं, देव और दानवगण ने जिसकी महिमा का पार नहीं पाया उस देव "विष्णु" के लिये हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृंगारहारावलि,
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये ।
त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिषु प्रेंखतः,
त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः ॥ ३ ॥

[वाल्मीकि रचित स्तोत्ररत्नाकर]

हे माता, हे पार्वतीजी की सपत्नि, हे पृथ्वी के शृंगारभूत हारावलिरूप, हे स्वर्ग में चढ़ने की पैंड़ी रूप श्रीगंगे ! मैं आप से यह प्रार्थना करता हूं कि तेरे तीर पर निवास करते हुए, तेरे जल का पान करते हुए, तेरी तरंगों में क्रीड़ा करते हुए, तेरे नाम का स्मरण करते हुए और तेरे मे दृष्टि रखते हुए मेरे शरीर का पात होवे ॥ ३ ॥

कल्पावसाने भुवनानि दग्ध्वा,
सर्वाणि यो नृत्यति भूरिलीलः ।
स कालरुद्रोऽवतु मां दवाग्ने-
र्वात्यादिभीतेरखिलाच्च तापात् ॥ ४ ॥

कल्प के अन्त में जो समग्र लोकों को जला कर बहुत लीला दिखलाता, नृत्य करता है, वह काल रुद्र महादेव दावा-

नल से और भभूल्या आदि के भय से और समग्र तापों से मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशास्त्रनिरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥५॥

जिसकी शैव शिव नाम से उपासना करते हैं, वेदान्ती जिसको ब्रह्म कहते हैं, बौद्ध जिसको बुद्ध कह कर पुकारते हैं प्रमाण देने में चतुर नैयायिक जिसको कर्ता बताते हैं, जैन शास्त्र में निपुण जन लोग जिसको अर्हन् नाम से पूजते हैं और मीमांसक लोग जिसको कर्म कहते हैं, तीन लोक का स्वामी वह नारायण हम "पाठकगण" को वाञ्छित फल प्रदान करे ॥ ५ ॥

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते,
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः,
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥ ६ ॥

[मुकुंदमाला]

हे कृष्ण आपके चरण कमलरूपी पिंजरे में मेरा मनरूपी राजहंस अभी से प्रवेश कर जावे, पीछे प्राणान्त समय में जब कफ, वात और पित्त से कंठ रुक जावेगा तब आपका स्मरण कहां से हो सकेगा ॥ ६ ॥

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्त्तये,
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते,
सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ॥ ७ ॥

जिनका कुछ अन्त नहीं, अनन्त जिनकी मूर्ति, हजारों चरण, नेत्र, शिर, जंघा और भुजा वाले, अपरिमित नाम वाले, सर्वदा रहने वाले, और हजारों करोड़ों युगों को धारण करने वाले अनन्त भगवान् को नमस्कार है ॥ ७ ॥

वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गतमानसाः ।
तेषां दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि ॥ ८ ॥

जो शान्त वृत्ति वाले और अपने इष्टदेव में सर्वदा मन रखने वाले वासुदेव भगवान् के भक्त हैं, हे परमात्मन् ! मेरी आप से यही प्रार्थना है कि मैं जन्म २ में उनके दासों का भी दास बनूं ॥ ८ ॥

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम् ।
सुग्रीवं वायुसूनुञ्च प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

रामचन्द्र को, लक्ष्मण को, सीता को, भरत को, शत्रुघ्न को, सुग्रीव को और हनुमान् को मैं वारम्बार प्रणाम करता हूं ॥ ९ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम,
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ १० ॥

[भगवद्गीता]

तुम आदिदेव, (तुम) पुरातन पुरुष, तुम इस जगत् के परम आधार, तुम ज्ञाता और ज्ञेय तथा तुम श्रेष्ठस्थान हो। और हे अनन्तरूप ! तुम्हीं ने (इस) विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है ॥ १० ॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ! ॥ ११ ॥

हे देवों के देव, मेरे आप ही माता हैं आप ही पिता हैं, आप ही भ्राता हैं, आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या हैं, आप ही धन हैं और मेरे तो सर्वस्व ही आप हैं ॥ ११ ॥

न मंत्रं नो यंत्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो,
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाम् ।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं,
परं जाने मातस्त्वदनुशरणं क्लेशहरणम् ॥ १२ ॥

हे माता बड़े कष्ट का विषय है कि आप के उस मंत्र, यंत्र और स्तुति को भी नहीं जानता हूं। आपके आह्वान, ध्यान और उस स्तुतिकथा को भी नहीं जानता हूं, आपकी उस मुद्रा को और उस विश्रामस्थान को भी नहीं जानता हूं, परन्तु हे माता क्लेशों को नाश करने वाले आपके उस अनुशरण (शरणागति) को जानता हूं ॥ १२ ॥

नमोऽस्तु सूर्याय सहस्ररश्मये,
सहस्रशाखान्वितसंभवात्मने ।
सहस्रयोगोद्भवभावभागिने,
सहस्रसंख्यायुगधारिणे नमः ॥ १३ ॥

हजारों हैं किरण जिनके तथा हजारों शाखाओं से संभव है आत्मा जिनकी तथा हजारों योगों से उत्पन्न भावों को भोगने वाले हजारों युगों को धारण करने वाले ऐसे श्री सूर्यनारायण को नमस्कार है ॥ १३ ॥

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके,
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा,
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करःपातु माम् ॥१४॥

जिसके वाम भाग में पार्वती, मस्तक पर गंगा, ललाट पर द्वितीया का चन्द्र, कंठ में हलाहल और वक्षःस्थल में नागराज सुशोभित हैं, वे भस्म से विभूषित, देवताओं में

प्रधान, सबके ईश्वर, सर्वदा सब के अंतर्यामी, कल्याणस्वरूप और कल्याण के करने वाले, चन्द्र से शुक्लवर्ण श्री महादेवजी मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं,
सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं,
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥ १५ ॥

नील कमल के सदृश श्याम और कोमल जिनके अंग हैं, श्रीसीताजी जिनके वामभाग में सुशोभित हैं और जिनके कर में श्रेष्ठ धनुष और सुन्दर बाण हैं उन रघुवंशियों के नाथ श्री रामचन्द्रजी को मैं नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥

हरिः ॐ



श्रीराम-राज्य-महिमा ।

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥
न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥
न चाग्निजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ।
न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।

[वाल्मीकीय रामायण प्रथमसर्ग श्लो० ९०—९३]

आदिकवि वाल्मीकिजी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए महर्षि नारद की उक्ति है कि—भगवान् श्रीरामचन्द्र के शासन-समय में सब लोग पुत्रपौत्रादि तथा पशु आदि सम्पत्तियों से सदा अति प्रसन्न रहेंगे । असीम औदार्यशाली श्रीराम राजा से सांसारिक तथा पारमार्थिक लाभ पाकर सब सन्तुष्ट होंगे अर्थात् अपनी; इस लोक और परलोक अथवा मोक्षप्राप्ति पर्यन्त अभिलाषाओं के पूर्ण होने से सब प्रजाजन परम सन्तोष प्राप्त करेंगे।

इसी से सब पुष्ट होंगे अर्थात् किसी के भी दरिद्रता और दुर्बलता न रहेगी, वरन सब प्रसन्नचित्त और सुपुष्ट शरीर वाले होंगे। सब उत्तम प्रकार से श्रुति-स्मृति-विहित और सदाचार-सिद्ध धर्म का यथावत् पालन करेंगे। किसी के आमय अर्थात् मानसी व्यथा और ज्वर, राजयक्ष्मा आदि भयङ्कर रोग न होंगे। कदापि दुर्भिक्ष का भय न होगा अर्थात् सर्वदा सबके लिये भक्ष्य भोज्य पदार्थ पर्याप्त रहेंगे।

कोई पुरुष अपने जीवन में अपने पुत्र पौत्रों का मृत्यु-जन्य वियोग नहीं देखेंगे। स्त्रियाँ नित्य पतिव्रत धर्म धारण करेंगी और वैधव्य का घोर संकट नहीं सहेंगी, अर्थात् अपने प्रेमभाजन भर्ता का वियोग होने पर सती धर्म का निर्वाह करती हुई जाज्वल्यमान चिताग्नि द्वारा अपने घनिष्ठ और पावन प्रेम को समुज्ज्वल करेंगी। अथवा पूज्य पति के आत्मांशरूप पुत्रों की रक्षा में रह कर सुख से जीवन बिताएंगी।

राम के राज्य में अग्निद्वारा होने वाला कुछ भय नहीं होगा। कोई प्राणी जल में न डूबेंगे। न कभी वायु से होने वाले तूफ़ान आदि से कुछ भय होगा अर्थात् किसी तरह का भी आधिदैविक दुःख नहीं होगा। ज्वरादि व्याधियों से आध्यात्मिक दुःख भी किसी को न होगा। क्षुधा अर्थात् भूख का कुछ भय नहीं रहेगा अर्थात् वर्णाश्रम-धर्मों का यथार्थ पालन होने से सब को जीविका सुलभ रहेगी॥

चोर डाकू आदि का भय नहीं होगा अर्थात् किसी प्रकार का आधिभौतिक दुःख भी न होगा। सभी नगर और राष्ट्र (देश) धन धान्य सम्पन्न होंगे और सदा सुबस बसेंगे।

सत्ययुग के समान सदा सब प्रमुदित रहेंगे। यद्यपि त्रेता-युग में अंशतः अधर्म का सम्बन्ध रहता है तथापि मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के प्रचण्ड प्रताप से और सुनीतिमय तथा शान्तिपूर्ण राज्यशासन के प्रभाव से सब प्रजाएं सर्वदा अपने २ धर्म पर अटल और आमोद प्रमोद सम्पन्न रहेंगी।

जयपुर

श्री रामचन्द्र की अभिलाषा।



भूयो भूयो भाविनो भूमिपाला !
नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
मद्बद्धोऽयं धर्मसेतुर्नराणां
काले काले पालनीयो भवद्भिः ॥

[प्राचीन शिलालेख से प्राप्त]

हे पश्चाद्भावी भूमिपालो ! रामचन्द्र विनयपूर्वक आप लोगों से बार बार याचना करता है कि मेरे बाँधे हुए मनुष्यों के धर्मसेतु की समय २ पर आप लोगों को रक्षा करनी चाहिये अर्थात् 'भविष्य के नृपगण कृपा कर अपने २ शासन-समय में मानवधर्म मर्यादारूप धर्मपद्धति को सर्वदा अटल रक्खें' यही मेरी अभिलाषा है।

